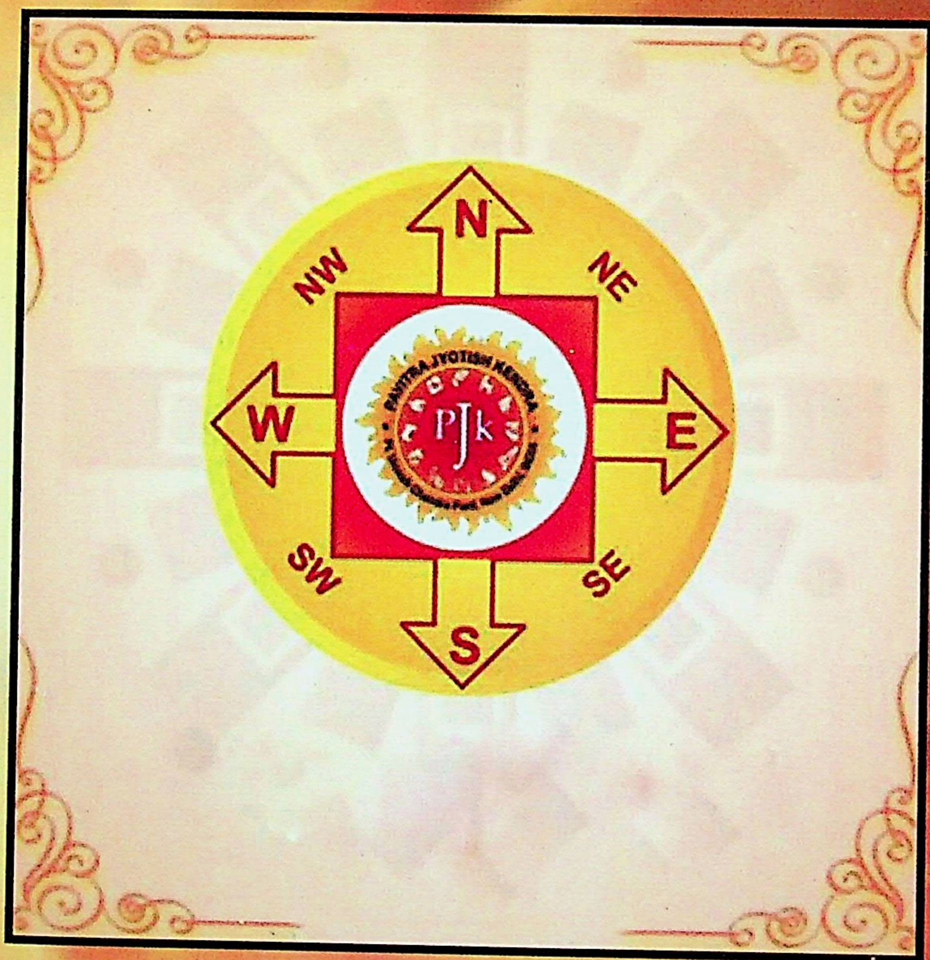
# वास्तुसौख्यपरिशीलन

# Vastusaukhyaparishilana




डॉ. सुनील दत्त

मानव की आरम्भ से ही प्रवृत्ति रही है कि वह सुरक्षित स्थान का आश्रय लेता है क्योंकि वहाँ पर उसे आत्मिक सुख और संतोष का अनुभव होता है। इसके लिए अर्थात् अपने निवास हेतु भवन का निर्माण करता है। भवन निर्माण के लिए वह वास्तु सम्बन्धित अभियन्ता से उचित परामर्श करके भवन का मानचित्र तैयार करवाता है। भवन निर्माण की इस कला को वास्तु की संज्ञा दी गई है। वास्तु के अन्तर्गत न केवल घर अपितु विद्यालय, चिकित्सालय, सड़क निर्माण, जलाशय, पुर निर्माण इत्यादि भी आते हैं। वास्तु का सर्वप्रथम वर्णन वेदों में प्राप्त होता है। तत्पश्चात् अन्य ग्रन्थों यथा विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, मयमतम्, मानसार, एवं वास्तुसौख्यम् आदि में भी वास्तुशास्त्रीय तथ्यों का विस्तृत विवेचन मिलता है। वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में वास्तुसौख्यम् का विशिष्ट स्थान है। भूमि चयन, भूमि परीक्षण, शल्यशोधन, वास्तुशास्त्रीय इतिहास, टोडरमल का परिचय, टोडरमल का वास्तुशास्त्र में स्थान निरूपण, भूमि दोष, गृहायुष्यकारक ग्रह विचार, गृहलग्नादि ग्रहफल, दिक् साधन, शाला के आधार पर गृह प्रकार, गृह द्वार, द्वार संख्या, वेध, द्वार प्रमाण, द्वार दशा एवं दिशा, गृह-परिमाण, मुहूर्त निर्णय तथा शिलान्यास आदि की वास्तुशास्त्रीय मीमांसा प्रस्तुत ग्रन्थ में की गई है।

ISBN : 978-81-938579-2-2 ₹ 350

# वास्तुसौख्यपरिशीलन

# वास्तुसौख्यपरिशीलन
# Vastusaukhyaparishilana

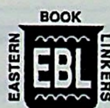

डॉ. सुनील दत्त

(संविदा) प्रवक्ता, संस्कृत विभाग

राजकीय आदर्श महाविद्यालय

महानपुर, जिला कठुआ

जम्मू-कश्मीर राज्य



ईस्टर्न बुक लिंकर्स

दिल्ली : : (भारत)

प्रकाशक :

**ईस्टर्न बुक लिंकर्स**

हैड ऑफिस: 5825, न्यू चन्द्रावल,
जवाहरनगर, दिल्ली-110007
फोन : 23850287, 9811232913

शोरूम: 4806/24, भरत राम रोड,
दरिया गंज, नई दिल्ली-110002
फोन : 23285413

e-mail : eblindology@gmail.com
ebl.info76@gmail.com
Website : www.eblindology.com



प्रथम संस्करण : 2018

मूल्य : ₹ 350

ISBN : 978-81-938579-2-2

---

**वास्तुसौख्यपरिशीलन**

**डॉ. सुनील दत्त**

---

टाईप सैटिंग : क्रियेटिव ग्राफिक्स
मुद्रक : आर. के. प्रिंट सर्विस, दिल्ली

## समर्पण

प्रस्तुत ग्रन्थ "वास्तुसौख्यपरिशीलन"

जिनका स्नेह अनवरत प्रत्येक कार्य हेतु प्रेरित करता आया है ऐसी ममता की मूर्ति परमपूज्य माता श्रीमती चम्पा देवी जी एवं पूजनीय पिता श्री राज कुमार जी के श्रीचरणों में सादर समर्पित है।

डॉ. सुनील दत्त




**DEPARTMENT OF SANSKRIT**
**UNIVERSITY OF JAMMU, JAMMU-180006**



Dr. Ram Bahadur Shukla

# शुभानुशंसा

रोटी, कपड़ा और मकान ये तीन मूलभूत चीजें मानव को प्रथमतया अभीष्ट होती हैं जिसमें सर्वप्रथम मानव अपने निवास की चिन्ता करता है, ऐसा व्यावहारिक प्रयोग में देखा जाता है, और प्राय: सभी गृहस्थ यह सोचते भी हैं कि उनका अपना स्वयं का एक गृह या भवन होना चाहिए, जो उनके मानकों के अनुरूप हो। एतदर्थ जब स्वयं में भवन विन्यास का सामर्थ्य किसी गृहस्थ में आता है तो वह सर्वप्रथम भूमिक्रय कर वास्तुशास्त्र के विधानानुसार एवं स्थान की विशिष्टतानुसार किसी वास्तुविद् या इंजीनियर से भवनविन्यास का मानचित्र भी बनवाता है जो आज एक आवश्यक-आवश्यकता के रूप मे भी है। भारत सरकार द्वारा भवन विन्यास हेतु उसका मानचित्र मंजूर होना चाहिए। भवन रचना में आने वाली विविध कठिनाइयों को पार कर मनुष्य इसलिए भी अपने घर में रहना चाहता है क्योंकि वह शास्त्रों की मान्यताओं को स्वयं अध्ययन कर या परम्परा से जानता है कि दूसरे व्यक्ति की भूमि अथवा गृह में किये गये सभी कर्म निष्फल हो जाते है एवं उन कर्मों का पुण्य फल भूमि अथवा गृह के वास्तविक स्वामी को मिलता है। इसीलिए शास्त्र भी कहता है कि गृहस्थ के लिए अपना उसका भवन होना अत्यन्त आवश्यक है, जैसा कि भविष्य पुराण में भी ऋषि कहते हैं-

**परगेहे कृताः सर्वाः श्रोत्रस्मार्त क्रियाः शुभाः।**
**विफला स्युर्यतस्तासां भूमीशः फलमश्नुते।।**

वास्तव में यदि देखा जाये, तो वह घर ही है जिसमें रह बस कर व्यक्ति, दैहिक, दैविक, एवं भौतिक तापों को सहते हुए- पुरुषार्थ चतुष्ट्य (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति का प्रयत्न करता है, और घर निर्माण विना वास्तुशास्त्र या वास्तुविद्या के बनाया जाये तो कुछ न कुछ संशय मानव मन में बना ही रहता है, एतदर्थ वह

इंजीनियरों, वास्तुविदों एवं ज्योतिषियों की शरण में जाने से परहेज भी नहीं करता, और करना भी नहीं चाहिए क्योंकि मानव जीवन का लक्ष्य ही दोनों लोकों में श्रेय एवं प्रेम की प्राप्ति है। इसीलिए मनुष्य अपने जीवन में सुख और शान्ति बनाये रखने के लिए दिक् काल की शक्तियों के अनुरूप चलने का प्रयत्न भी करता है, और यदि सोचा जाये तो प्राकृतिक शक्तियों से सामंजस्य बनाकर जीवन यापन करने की कला का नाम ही वास्तुविद्या या वास्तुशास्त्र है, जो ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त एवं सृष्टि की नियामक सूक्ष्मशक्तियों में सन्निहित ऊर्जा को मानव जीवन के विविध प्रसङ्गों में सार्थक प्रयोगों का सुझाव देने वाला शास्त्र है, उसी शास्त्र को पल्लवित पुष्पित करने वाला ग्रंथ है 'वास्तुसौख्यम्', जिसे सम्राट अकबर के कुशल सेनापति वित्त एवं कृषि मंत्री टोडरमल की रचना माना जाता है जिनका समय सोलहवीं शताब्दी माना जाता है।

वैसे तो विश्व के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद में वास्तुविद्या के उत्स देखने को मिलते हैं, जिससे इस विद्या की प्राचीनता का पता चलता है जैसा कि ऋषि कहते हैं-

**ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्वै यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः।**
**अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि।।**

ऋग्वेद - 1-154-6

गृह कल्याण के लिए वास्तोष्पति से प्रार्थना करते हुए ऋषि कहते हैं-

**वास्तोष्पति प्रति जानीह्यास्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।**
**यत् त्वमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।।**

ऋग्वेद. 7.54.1

अथर्ववेद के शालासूक्त में भी वास्तु विद्या की प्रभूत सामग्री देखने को मिलती है। अनन्तर में विविध पुराणों यथा-अग्निपुराण, मत्स्यपुराण, विष्णुधर्मोत्तर पुराण, वृहन्नारदीय पुराण, स्कन्दपुराण आदि के साथ-साथ समरांगण सूत्रधार, मयमतम्, शिल्पशास्त्र, मानसार आदि ग्रंथों में वास्तुशास्त्र की भरपूरविषय सामग्री मिलती है एवं सम्पूर्ण ग्रन्थकारों ने वास्तुशास्त्र के अठारह प्रमुख आचार्यों का भी उल्लेख किया है जिसमें मतमतान्तर भले ही देखने को मिलता है।

निःसंदेह आचार्य सायण ने जो वास्तु की परिभाषा दी है, जिसमें वह लिखते हैं "वस्तूनि सुखनिवास-योग्यानि स्थानानानि" उन सम्पूर्ण तथ्यों का संगुम्फन मेरे प्रिय शिष्य डॉ. सुनील दत्त ने अपने ग्रन्थ वास्तुसौख्यपरिशीलन में किया है जो वास्तव में उनके एम.फिल् उपाधि हेतु प्रस्तुत लघुशोधप्रबन्ध का परिष्कृत रूप है। सात अध्यायों

में विभक्त वास्तुशास्त्र सम्बन्धी यह ग्रन्थ वास्तव में वास्तुशास्त्र में दीक्षित होने वाले जिज्ञासुओं के लिए प्रवेश द्वार रूप है। लेखक ने वास्तु ब्रह्म की परिकल्पना को साकार करने के लिए वास्तुविद्या के विविध सोपानों भूमिपरीक्षा, भूदोषनिरूपण, गृहभेद, एवं उनके प्रमाण का विवरण, द्वारवेध शल्य शोधन, मुहूर्तनिर्णय, शिलान्यास विधान, गृहनिर्माण, एवं शुभ मुहूर्त तथा शुभ दिन में गृहप्रवेश की जो चर्चा की है, वह अल्प होते हुए भी सटीक एवं ज्ञानवर्धक है। प्रतिभावान लेखक ने जो श्रम किया है एवं वास्तुसम्बन्धी गवेषणा को अपनी इस कृति में किया है, एतदर्थ वह बधाई एवं प्रशंसा के पात्र हैं। मैं ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार दोनों का युगपत् अभिनन्दन करते हुए लेखक को शुभाशी: देता हूँ कि वह भविष्य में इसी तरह नित नयी कृतियों का सृजन कर संस्कृत भाषा के उन्नयन में अपना योगदान देते रहेंगे। इति शम्

प्रो. रामबहादुर शुक्ल
संस्कृत विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

# भूमिका

प्राय: प्रत्येक मनुष्य ऐसे गृह में निवास करना चाहता है, जिसमें रहकर उसे चतुर्दिक् उन्नति, सुख शान्ति एवं वैभव तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति हो। शायद इसीलिए वह गृह निर्माण के पूर्व ज्योतिषियों एवं वास्तुविदों की शरण में जाकर अपने द्वारा निर्वाचित भूमिखण्ड का भवन गृहनिर्माण हेतु मानचित्र बनवाता है। तदनन्तर उस गृह में निवास करने हेतु शुभ मुहूर्त एवं वार में जाता है क्योंकि मानव जीवन का लक्ष्य दोनों लोकों में श्रेय तथा प्रेय की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ चतुष्ट्य की सिद्धि ही है। दिक् और काल की शक्तियों के अनुकूल चलते हुए तदनुरूप अपने रहन-सहन को व्यवस्थित करने में ही नि:सन्देह जीवन की सुख शान्ति निहित है। वास्तव में वास्तुशास्त्र प्राकृतिक शक्तियों में सामञ्जस्य बनाने वाला ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त एवं सृष्टि की नियामक सूक्ष्मशक्तियों में सन्निहित ऊर्जा को मानव जीवन के विविध प्रसङ्गों में सार्थक प्रयोग का सुझाव देने वाला शास्त्र है जिसे अपनाकर भवन निर्माण कराकर मानव मानसिक परितोष का अनुभव करता है।

भवन तो विविध प्रकार के होते हैं, परन्तु सामान्य मानव जिसमें रहकर चारों आश्रमों यथा - ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास के लोगों का परिपालन करता है, वह गृहस्थ आश्रम ही है इसीलिए वास्तुरत्नाकर के विवरणानुसार पुरुषार्थ चतुष्ट्य की सिद्धि के लिए गृहस्थ को एक शुभ घर की सर्वाधिक आवश्यकता होती है क्योंकि गृहस्थ के सभी क्रियाकलाप स्वकीय गृह के बिना सिद्ध नहीं होते-

**गृहस्थस्य क्रिया सर्वा न सिद्ध्यन्ति गृहं विना।**
**यतस्तस्माद् गृहारम्भकर्म चात्राभिधीयते।।**

वहीं राजवल्लभमण्डनम् में वर्णन मिलता है कि उत्तम भवन स्त्री एवं पुत्रादि भोगों तथा सुखों का हेतु; धर्म, अर्थ एवं काम को प्रदान करने वाला सभी प्राणियों का निवास स्थल; शीत, वृष्टि, आतप एवं शत्रुओं से रक्षा करने वाला मांगलिक एवं

धार्मिक कृत्यों का स्थान एवं सुख का आगार होता है। वापी एवं कुएं का सुख तथा मन्दिर का पुण्य भी आवास से ही प्राप्त होता है इसलिए पण्डित और देवता सर्वप्रथम गृह की आवश्यकता करते हैं यथा –

**स्त्रीपुत्रादि भोगसौख्यजनकं धर्मार्थकामप्रदम्,**
**जन्तुनामयनं सुखास्पदमिदं शीताम्बुघर्मापहम्।**
**वापी देव गृहादि पुण्यमखिलं गेहात् समुत्पद्यते,**
**गेहं पूर्वमुशन्ति तेन विवुधाः श्रीविश्वकर्मादयः।।**

धारानगरी के राजा एवं प्रसिद्ध वास्तुविद् भोज ने समराङ्गणसूत्रधार में गृहनिर्माण की आवश्यकता के पीछे तीनों दुःखों – आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक, मैथुनादि की अभिगुप्ति, शीतल निहार, जाड़े, पानी, वर्षा और आंधी से बचाव तथा भोगादि के लिए आवास की अपरिहार्यता बताई है एवं तदनुरूप गृहनिर्माण करने की विवक्षा उन्होंने लोकजीवन के समक्ष रखी है।

वेदों की भी यही मान्यता है कि गृह से ही जनसमूह के साथ तरुण, कुमार और गो अश्वादि के वत्स, परिस्रुत मधु आदि के कुम्भ, दधिपूर्ण कलश की प्राप्ति होती है जैसा कि अथर्ववेद (3/12/7) के विवरण के स्पष्ट भी है। यथा–

**एमा कुमार स्तरुण आ वत्सो जगता सह।**
**एमां परिस्रुतः कुम्भः आदध्न कलशै रगुः।।**

ऋग्वेद (1/154/6) के विवरण से भी वास्तुशास्त्र की प्राचीनता की भी पुष्टि होती है। अथर्ववेद का शालासूक्त तो वास्तुशास्त्र का मूल ही माना जाता है। जैसे कि श्रीमद्भागवतपुराण (3/12/37–39) के विवरण से स्पष्ट होता है यथा –

**ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यान् देवान् पूर्वादिभिर्मुखे।**
**शस्त्रमिज्यां स्तुतिस्तोमं प्रायश्चितं व्यधात्क्रमात्।।**
**आयुर्वेदं धनुर्वेदं गांधर्व वेदामात्मनः।**
**स्थापत्यं चासृद् वेद क्रमात् पूर्वादिभिमुखैः।।**
**इतिहास पुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः।**
**सर्वेभ्यः एवं वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः।।**

वैसे तो विविध आचार्यों ने वास्तुशास्त्र के कलेवर में अपना योगदान दिया है लेकिन वास्तुशास्त्र के प्रमुख उपदेशक आचार्यों की संख्या अट्ठारह ही मानी जाती है।

मत्स्यपुराण में इन अट्ठारह आचार्यों का वर्णन प्राप्त होता है। वे हैं – भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, मय, नारद, नग्नजित्, विशालाक्ष, पुरन्दर, ब्रह्म, कुमार, नन्दीश, सोनक, गर्ग, वासुदेव, अनिरुद्ध, शुक्र तथा वृहस्पति। इन आचार्यों में मय एवं विश्वकर्मा अत्यधिक प्रसिद्ध थे। विश्वकर्मा औदीच्यपरम्परा के तथा मय दाक्षिणात्य परम्परा के दीपस्तम्भ माने जाते हैं। समराङ्गणसूत्रधार के अनुसार प्रभावसु के पुत्र विश्वकर्मा देवगुरु वृहस्पति के भागिनेय एवं अपराजितपृच्छा के अनुसार भृगु (शुक्राचार्य) के भागिनेय थे। ये दोनों ऋषि शिल्पशास्त्र के महनीय उपदेशक थे। नल एवं नील के साथ अष्टावसुओं की ख्याति भी शिल्पज्ञ रूप में प्रथित है। वास्तुशास्त्रविद् टोडरमल महोदय ने अपने ग्रन्थ में कुछ प्राचीन वास्तुविदों के नाम का संकीर्तन किया है और अपने ग्रन्थ वास्तुसौख्यम् में उनके सिद्धान्तों एवं मान्यताओं को स्थान दिया है। श्री टोडरमल सम्राट अकबर के सलाहकार, सेनापति एवं वित्तमंत्री थे जिनका समय 16वीं शताब्दी माना जाता है। वास्तुसौख्यम् सरल भाषा में उपनिबद्ध वास्तुशास्त्रीय मान्यताओं को उजागर करने वाला एक प्रमुख ग्रन्थ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मेरे लघुशोध प्रबन्ध का संशोधित रूप है। अध्ययन के सौकर्य से इसे सात अध्यायों में विभक्त किया गया है। जिसके प्रथम अध्याय में वास्तुशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास विवेचित करने के अनन्तर वास्तुशास्त्र के प्रमुख आचार्यों का संकीर्तन एवं वास्तुसौख्यम् के रचनाकार श्री टोडरमल के जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डाला गया है और यह अभिहित किया गया है कि 16वीं शताब्दी के श्री टोडरमल कुशल सेनापति के साथ कृषि मंत्री एवं वित्त मंत्री भी थे। अपनी योगयताओं के कारण यह अकबर के नवरत्नों में से एक थे। इनके द्वारा विरचित वास्तुसौख्यम् वास्तुशास्त्रीय मान्यताओं को उजागर करने वाला प्रमुख ग्रन्थ है। प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में वास्तुपुरुष की परिकल्पना का विश्लेषण किया गया है जिसमें वास्तु शब्द की विशिष्ट व्युत्पत्तियों का वर्णन करने के उपरान्त उसके क्षेत्र का परिसीमन वास्तुपुरुष का स्वरूप एवं वास्तुपुरुष की परिकल्पना पर विचार किया गया है और यह निर्देशित किया गया है कि वास्तुपुरुष की कल्पना के विना गृह–निर्माण सम्भव नहीं होता। भूमि परीक्षण के तुलनात्मक अध्ययन नामक तृतीय अध्याय में सर्वप्रथम गृह–निर्माण हेतु भूमि चयन की विविध विधाओं का निरूपण किया गया है साथ ही दिक् साधक, भू दोष निरूपण का भी वर्णन किया गया है। वास्तुसौख्यम् में वर्णित विविध ग्रहों के परिशीलन नामक चतुर्थ अध्याय में सर्वप्रथम

गृहायुष्यकारक ग्रह विचार पर लेखनी चलायी हुई है साथ ही गृह लग्नादि का ग्रह फल एवं वास्तुसौख्यम् में प्राप्त ग्रहों का परिशीलन किया गया है। पञ्चम अध्याय में गृहभेद एवं उनके प्रमाण का विवेचन किया गया है। सर्वप्रथम गृह एवं शाला का अर्थ गृह प्रकार चतु:शाल गृह, त्रिशाल गृह, द्विशाल गृह, एकाशाल गृह का विवेचन करने के अनन्तर वर्णानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के लिए गृह प्रमाण का निरूपण किया गया है। द्वार एवं द्वारवेध नामक षष्ठ अध्याय में गृह द्वार प्रमाण का विवेचन करने के साथ-साथ गृह द्वार दशा एवं दिशा का निर्धारण, द्वार संख्या विवेचन शुभ द्वार फल के साथ-साथ द्वारवेध निरूपण एवं उनसे होने वाली कठनाईयों का वर्णन किया गया है। सप्तम अध्याय में वास्तुसौख्यम् में निरूपित गृहारम्भ सम्बन्धी वास्तुशास्त्रीय अध्ययन किया गया है। जिसमें शल्य शोधन, मुहूर्त निर्णय एवं शिलान्यास विधान का विशिष्ट विवेचन करते हुए यह दिखाया गया है कि शुभ मुहूर्त एवं शुभ वार में ही जहाँ गृहनिर्माण करवाना चाहिए, वही शुभ मुहूर्त एवं शुभ दिन में गृहप्रवेश भी करना चाहिए। उपसंहार में यह वर्णित किया गया है कि वास्तुसौख्यम् वास्तुशास्त्रीय विधाओं का महनीय ग्रन्थ है। टेडरमल ने जहाँ प्राचीन ऋषियों की मान्यताओं का विवेचन करके वास्तुशास्त्र के कलेवर का परिवर्धन किया है, वहीं उन्होंने शायद वास्तुशास्त्र को मनुष्य का मित्र या सखा मानने की विवक्षा-वश सम्भवत: अपने ग्रन्थ का नामकरण वास्तुसौख्यम् रखा हो। नि:सन्देह वास्तुसौख्यम् को वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों को समझने का एक प्रवेश द्वार माना जा सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ को आकारित होने में मैंने जिन-जिन महनीय ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों का आश्रय लिया है उनके प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। अन्त में अपने पूज्य पिता श्री राजकुमार एवं स्नेहदात्री माँ श्रीमती चम्पा देवी के चरण स्पर्श करता हुआ, अपने मार्ग दर्शक उत्प्रेरक एव शोधनिर्देशक डॉ. रामबहादुर शुक्ल जी के प्रति हार्दिक प्रणिमा निवेदित करते हुए तथा इस ग्रन्थ लेखन में सहयोग एवं परामर्श देने वाले मित्रों यथा सुनील कुमार, डॉ. परषोत्तम शर्मा, डाँ विजेन्द्र, परषोत्तम मगोत्रा, डाँ. जीवन कुमार, डॉ. उषा शर्मा, विजय कुमार विपन शर्मा, रवि शर्मा, गौरव शर्मा, विकास भारती, यशपाल आदि को भी धन्यवाद देता हूँ। इसके साथ ही ईस्टर्न बुक लिंकर्स के संस्थापक श्री रवि मल्होत्रा की तत्परता को प्रकाशन हेतु उन्हें धन्यवाद का आख्यान करते हुए इस ग्रन्थ को ज्ञापित करता हूँ। परम परमात्मा की शरण में जाता

हुआ उनसे शुभाशीष की कामना करता हूँ एवं विद्याधुरीण मर्मज्ञों के सम्मुख नतमस्तक होते हुए अपनी लेखनी को विराम देता हूँ और उनके सम्मुख यह अभीप्सा रखता हूँ कि "परीक्ष्य मद्वचो ग्राह्यं भिक्षवो न तु गौरवात्"।


विनयावनत्

**डॉ. सुनील दत्त**

संविदा प्रवक्ता, संस्कृत विभाग

राजकीय आदर्श महाविद्यालय

महानपुर, जिला कठुआ

जम्मू व कश्मीर राज्य

# शब्द सङ्केत-सूची

| | |
|---|---|
| अ० को० | अमरकोश |
| अ० पु० | अग्निपुराण |
| अ० पृ० | अपराजितपृच्छा |
| अ० वे० | अथर्ववेद |
| अ० शा० | अर्थशास्त्र |
| ऋ० वे० | ऋग्वेद |
| गृ० वा० प्र० | गृहवास्तुप्रदीप |
| प्रा० म० | प्रासादमण्डनम् |
| बृ० दै० र० | बृहदैवज्ञरञ्जनम् |
| बृ० सं० | बृहत्संहिता |
| बृ० वा० | बृहद्वास्तुमाला |
| म० पु० | मत्स्यपुराण |
| म० म० | मयमतम् |
| म० | मनुस्मृति |
| मनु० च० | मनुष्यालय चन्द्रिका |
| महा० | महाभारत |
| मा० सा० | मानसार |
| मु० ग० | मुहूर्तगणपति |

| | |
|---|---|
| मु० चि० | मुहूर्तचिन्तामणि |
| रामा० | रामायण |
| रा० व० म० | राजवल्लभमण्डनम् |
| व० सं० | वशिष्ठ संहिता |
| वा० म० | वास्तुसारमण्डनम् |
| वा० मा० रत्न० | वास्तुमाणिक्यरत्नाकर |
| वा० र० | वास्तुरत्नावली |
| वा० रत्न० | वास्तुरत्नाकार |
| वा० सा० | वास्तुसार |
| वा० सौ० | वास्तुसौख्यम् |
| वा० शा० | वास्तुशास्त्र |
| वि० प्र० | विश्वकर्मप्रकाश |
| वि० वा० | विश्वकर्मवास्तुशास्त्र |
| वि० वि० द्र० | विशिष्ट विवरण दृष्टव्य |
| वि० वि० प्र० | विश्वकर्मविद्या प्रकाश |
| शि० र० | शिल्परत्नम् |
| शु० नी० | शुक्र नीति |
| स० सू० | समराङ्गणसूत्रधार |
| सं० सा० का इति० | संस्कृत साहित्य का इतिहास |
| स० सू० भ० नि० | समराङ्गणसूत्रधार भवन निवेश |
| सि० शि० | सिद्धान्त शिरोमणि |

# विषय-सूची

# 1

# वास्तुसौख्यम्कार का जीवन व्यक्तित्व एवं कृतित्त्व निरूपण

## वास्तुशास्त्रीय इतिहास

संस्कृत साहित्य अत्यन्त विशाल एवं समृद्ध है। संस्कृत साहित्य में वैदिक साहित्य प्राचीन माना जाता है एवं वास्तुशास्त्र वैदिक साहित्य का एक मुख्य अंग माना जाता है। वैदिक साहित्य में वेदों का स्थान सर्वप्रथम माना गया है। इनके अध्ययन से विदित होता है कि तत्कालीन समाज पूर्णतया सुसंस्कृत था, उस समय जीवन को सुखमय बनाने के लिए गृह-निर्माण किया जाता था। चतुर्वेदों में सामवेद को छोड़कर ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं अथर्ववेद में वास्तुशास्त्रीय तथ्यों के दर्शन स्पष्ट प्राप्त होते हैं। प्राचीनतम वेद ऋग्वेद[1] में गृह शब्द का प्रयोग निवास अर्थ में होता है। अथर्ववेद[2], ऐतरेय ब्राह्मण[3], तथा वाजसनेयी संहिता[4] आदि ग्रन्थों में भी गृह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। ऋग्वेद में गृह के अनेक पर्याय यथा दम, पस्त्या, हर्म्य, गेय, सदस, सदन, वेश्म आदि अनेकों का प्रयोग हुआ है।[5] निघण्टु के वर्णनानुसार ऋग्वेद में साधारण घर के अर्थ में 22 शब्द प्रयुक्त हुए हैं।[6] वैदिक युगीन घर इतने विस्तृत और व्यवस्थित होते थे कि उनमें परिवार के लोगों के रहने के अतिरिक्त पशुओं तथा भेड़ों आदि को भी सुखपूर्वक रखा जा सकता था। ऋग्वेद के वर्णन से

---

1. सुरणं गृहे ते। ऋ० वे० 3/53/6
   दाशुषो गृहे। ऋ० वे० 4/49/6; 8/10/1
2. वरूण गृहः। अ० वे० 7/83/1
3. ऐतरेय ब्राह्मण 2/3/1
4. वाजसनेयी संहिता 2/32
5. ऋ० वे० 8/22/3; 8/26/17; 7/18/22
6. निघण्टु 2/4

सौ द्वारों से युक्त विशाल भवन के अस्तित्व का पता चलता है। इन भवनों के द्वार लोहे व सोने से निर्मित होते थे।[1] गृहों का निर्माण लोहे के अतिरिक्त पत्थर, लकड़ी और मिट्टी से होने के अनेकों उदाहरण ऋग्वेद में मिलते हैं।[2]

ऋग्वेद में वास्तोष्पति शब्द का उल्लेख हुआ है[3] जिसका शाब्दिक अर्थ वास्तु अर्थात् घर का स्वामी। कोश ग्रन्थों में इसका अर्थ इन्द्र बताया गया है।[4] डॉ० शुक्ल ने वास्तोष्पति शब्द का अर्थ भवन स्थल का आराध्य देवता किया गया है।[5] ऋग्वेद में विभिन्न स्थलों पर वास्तुशास्त्रीय तथ्यों के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

अथर्ववेद का शालासूक्त शाला या गृह-निर्माण के विविध मापदण्डों एवं विवरणों की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। शाला सूक्त को वास्तुशास्त्र का उपजीव्य माना जाता है इनमें वैदिक काल में निर्मित होने वाले गृहों का सुन्दर और स्पष्ट चित्र हमारे समक्ष उपस्थित होता है। गृह-निर्माण का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि इस प्रकार का गृह निर्माण करना चाहिए जो सब ओर से उत्तमोत्तम हो जिसे देखकर विद्वान् भी प्रशंसा करें। अथर्ववेद के गृह सम्बन्धी वर्णनों से स्पष्ट है कि उस समय गृहों का निर्माण एक निर्धारित परिमाप के अनुसार किया जाता था।

वैदिक युग के गृहों में अनेक प्रकोष्ठ अर्थात् कक्ष होते थे। विभिन्न कार्यों से सम्बन्धित कक्षों को उनके उपयोग के अनुसार तैयार करवाया जाता था। अथर्ववेद के एक मन्त्र में चार प्रकार के विशेष कक्षों का उल्लेख प्राप्त होता है[6] ये चार प्रकोष्ठ हैं - जिनमें से **प्रथम** - हविर्धान या भण्डारगृह - यहाँ यज्ञ एवं गृहस्थजीवन निर्वाहार्थ आवश्यक सामग्री सञ्चित करके रखी जाती थी। आधुनिक समय में भी घरों में भण्डारगृह (Store) के नाम से अलग कक्ष होता हैं, जिसमें विभिन्न वस्तुएँ रखी जाती हैं। **द्वितीय** अग्निशाला प्रकोष्ठ ऐसा कक्ष था जिसमें अग्नि का आधान किया जाता था इस कक्ष में अग्नि सदैव प्रज्जवलित रहती थी इसलिए अग्नि के लिए पृथक कक्ष का विधान किया गया। **तृतीय** पत्नीनां सदनं अर्थात् स्त्रियों के रहने का

---

1. ऋ० वे० 7/85/6; 7/88/5; 8/50/12
2. ऋ० वे० 7/15/14; 4/30/20; 7/89,1
3. ऋ० वे० 7/54/13; 7/551
4. पद्मचन्दकोश, पृ० 348; शब्दार्थ भानु, पृ० 287
5. वास्तुशास्त्र भाग 1, पृ० 68
6. हविर्धानमग्नुशालं पत्नीनां सदनः सदः।
   सदो देवानामसि देवि शाले।। अ० वे० 9/3/7

कक्ष, परवर्ती समय में इसी की संज्ञा अंत:पुर हुई। **चतुर्थ** प्रकोष्ठ सदस् या बैठक थी जिसे सभा भी कहा जाता था।[1] इस कक्ष में अतिथियों का स्वागत किया जाता था[2] इन कक्षों के अतिरिक्त गाय, बैल, घोड़े आदि पशुओं की समुचित देखभाल करने के लिए भी पृथक् स्थान होता था।

वैदिक काल में छोटे-छोटे घरों के साथ-साथ बड़े-बड़े प्रासादों एवं महलों के निर्माण की संसूचना भी वेदों में प्राप्त होती है। ऋग्वेद में प्राप्त हर्म्य शब्द का अभिप्राय महल या विशाल भवन प्रतीत होता है।[3] ऋग्वेद में एक ऐसे बृहन्तमान (जिसका माप या परिमाण बहुत बड़ा हो) भवन का वर्णन है जिसके सहस्र द्वार थे।[4] एक अन्य स्थान पर सप्तगु ऋषि ने इन्द्र से प्रार्थना की है कि - मुझे एक बहुत बड़ा गृह रहने को दो, जैसा किसी के पास न हो।[5] इसी प्रकार सहस्र स्तम्भों वाली बड़ी-बड़ी सभाओं तथा घरों का वर्णन भी ऋग्वेद में प्राप्त होता है।[6]

वैदिककाल में निर्मित गृह चित्रों आदि से अलङ्कृत अत्यन्त आकर्षक होते थे। घरों की भीतरी तथा बाहरी दीवारों को विविध प्रकार के चित्रों से आकर्षित बनाया जाता था। अथर्ववेद में गृह की उपमा अलंकृत हस्तिनी[7] एवं सुन्दर वधू[8] से की गई है। घरों को सुन्दर एवं मजबूत बनाने का विचार वैदिक काल में भी प्रचलित था। जिस प्रकार चिकित्सक टूटे अंगों को जोड़कर दृढ़ बना देता है उसी प्रकार गृह सम्बन्धी आवश्यक सामग्री एकत्रित कर घरों को सुदृढ़ एवं दीर्घजीवी बनाने की बात अथर्ववेद में कही गई है। गृह में मनुष्य को अमित सुख की प्राप्ति होती थी। पास्कर-गृह्य सूत्र में घर को संसार का केन्द्र माना गया है।[9] वस्तुत: गृहस्वामी के

---

1. वैदिक इंडेक्स 1/230, 231
2. भारतीय कला, पृ० 57
3. ऋ० वे० 7/55/6
4. ऋ० वे० 7/88/5
5. यत्वा यामि दद्धि नन्न इन्द्र बृहतं क्षयमसमं जनानाम्। ऋ० वे० 10/47/8
6. (क) राजानावनाभिद्रुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे।
   सहस्त्रस्थूण आसते।। ऋ० वे० 2/41/5
   (ख) राजानां क्षत्रमहृणीयमाना सहस्त्रस्थूणं विभृथ: सह द्वौ। ऋ० वे० 5/62/6
7. मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती।। अ० वे० 9/3/17
8. वधूमिव त्व शाले यत्र कामं भरामसि। अ० वे० 9/3/24
9. इमामुच्छ्रयामि भुवनस्य नाभिं वसोर्धारा प्रतरणीं वसूनाम्।
   इहैव ध्रुवां निमिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठतु घृतमुक्षमाना।। पास्कर गृह्यसूत्र 3/4/4

लिए उसका गृह विश्व केन्द्र होता है क्योंकि उसी धुरी के चारों ओर उसके विचार घूमते रहते हैं।

अथर्ववेद के वर्णन से स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में साधारण कुटिया से लेकर विशाल भवनों का निर्माण होता था। अथर्ववेद में द्विपक्षा, चतुष्पक्षा, षट्पक्षा, अष्टपक्षा एवं दशपक्षा शालाओं का भी वर्णन मिलता है।[1]

वैदिक साहित्य में गृह निर्माण में प्रयुक्त होने वाली सामग्री का भी उल्लेख प्राप्त होता है। गृहों के निर्माण में मिट्टी, ईंट तथा पत्थर आदि का प्रयोग किया जाता था। ऋग्वेद में एक स्थान पर वशिष्ठ ऋषि कहते हैं कि – मैं मिट्टी के घर में जाकर नहीं रहूँगा।[2] जिससे यह स्पष्ट है कि मिट्टी के अतिरिक्त सामग्री से भी गृहों का निर्माण होता था। एक अन्य स्थान पर पक्के स्थायी मकानों का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[3] अथर्ववेद में पाषाण निर्मित गृहों का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[4] वैदिक काल में भवनों की नींव को सुदृढ़ बनाने के लिए पत्थर आदि के प्रयोग की संसूचना अथर्ववेद में प्राप्त होती है।[5] उस समय के घरों के दो तल्ले, तीन तल्ले होने का उल्लेख भी प्राप्त होता है।[6]

गृहों के साथ-साथ वैदिक साहित्य में ग्रामों एवं पुरों का भी वर्णन मिलता है। ग्राम शब्द का गाँव के अर्थ में प्रयोग ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा वाजसनेयी संहिता में अनेक स्थलों पर हुआ है।[7] इन वर्णनों से प्रतीत होता है कि वैदिक संस्कृति भी मूलतः ग्राम प्रधान थी। ये गाँव खुले और साफ-सुथरे हुआ करते थे। सभी घर अलग-अलग तथा आहातों से घिरे हुए होते थे। गाँव छोटे तथा बड़े दोनों प्रकार के होते थे। शतपथ ब्राह्मण[8] और छान्दोग्योपनिषद्[9] के विवरणानुसार कुछ गाँव पास-पास

---

1. या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षां या निमीयते।
   अष्टपक्षां दशपक्षां शाला मानस्य
   पत्नीमग्निगर्भ इव शये।। अ० वे० 9/3/21
2. मा अहं मृण्मये गृहं गमम्। ऋ० वे० 7/89/1
3. ध्रुवं छर्दिः यशः यंसतः।
4. अ० वे० 5/10/1-7
5. क. इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालाम्। अ० वे० 3/12/1
   ख. इहैव ध्रुवां प्रति तिष्ठ शाले। अ० वे० 3/12/2
6. ऋ० वे० 7/3/7; 7/15/14; 5/62/6
7. ऋ० वे० 1/44/10
8. छान्दोग्योपनिषद् ब्राह्मण 8/6/3
9. शतपथ ब्राह्मण 8/6/3

और कुछ दूर-दूर बसे हुए थे। बड़े-बड़े गाँवें को महाग्राम की संज्ञा से अभिहित किया गया है।[1] ऋग्वेद में अग्निदेवता को ग्रामों का रक्षक तक कहा गया है।[2]

वैदिक साहित्य के अनुशीलन से तत्कालीन पुरों के संबन्ध में संक्षिप्त किन्तु महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है जिसका अर्थ साधारणतया किला है जिसमें राजा, उसका परिवार व उसके सेवक रहते थे तथा जो इतना मजबूत होता था कि वह किसी भी आक्रमण का सामना कर सकता था।[3] ऐसे किले साधारणतया पत्थर के बने होते थे। कही-कहीं लोह निर्मित (आयसी) पुरों का भी वर्णन प्राप्त होता है।[4] इनमें राजा के अतिरिक्त बड़े-बड़े व्यापारी आदि भी रहा करते थे।[5] ऋग्वेद में शतभुजी अर्थात् सौ दीवारों से युक्त किलों का भी वर्णन प्राप्त होता है।[6]

अथर्ववेद में एक नगर का उल्लेख प्राप्त होता है जो आठ चक्रों, नौ द्वारों से युक्त देवताओं की अयोध्या नगरी है। उसमें सुवर्णमय कोश है, वह तेज से घिरा हुआ स्वर्ग है। इस नगरी की सुंदरता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इस प्रकाशमान, मनोहारिणी, यश से घिरी हुई अपराजित सुवर्ण की नगरी में ब्रह्मा प्रविष्ट होता है।[7]

इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य में वास्तुशास्त्रीय विषय वस्तु प्रचुर मात्रा में वर्णित मिलती है। अतः वेदों को ही वास्तुशास्त्र का उद्गम स्थान माना जा सकता है।

ब्राह्मण साहित्य में भी वास्तुशास्त्रीय विषय सामग्री के संकेत हमें प्राप्त होते हैं। ब्राह्मण साहित्य में प्रतिष्ठित एवं प्रसिद्ध पुरों एवं नगरों का उल्लेख प्राप्त होता है। शतपथ ब्राह्मण में तीनों लोकों की उपमा पुर से दी गयी है।[8] इस युग में पुर दुर्गों से सुरक्षित होते थे। ऐतरेय ब्राह्मण[9] तथा शतपथब्राह्मण[10] में दुर्ग सुरक्षा के साधन रूप

---

1. जैमिनीय उप० ब्राह्मण 3/13/4
2. ऋ० वे० 1/44/10
3. ऋ० वे० 1/53/7) 1/58/8) 1/131/4 इत्यादि
4. ऋ० वे० 2/30/20) 7/3/7) 7/15/14) 10/101/8
5. ऋग्वैदिक कल्चर ए०सी०दास, पृ० 186, 187
6. शतभुजि भिस्तमभिह्रतेर घात्पूर्भी रक्षता मरूतो यमावतः। ऋ० वे० 1/66/8
7. अष्यचक्रा नवद्वारां देवानां पूरयोध्या।
   तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।। अ० वे० 10/2/31
8. इमे वै लोका पुरः। शतपथ ब्राह्मण 10/2/5/1
9. प्रा० भा० क० वा० पृ० 54
10. शतपथ ब्राह्मण 7/1/1/13; 9/4/3/9

में प्राकार एवं परिखा या खाई का उल्लेख प्राप्त होता है। ऐतरेय[1] और गोपथब्राह्मण[2] में प्राप्त महापुर शब्द सम्भवतः राजधानी के लिए प्रयुक्त हुआ है। ब्राह्मण ग्रन्थों के वर्णनानुसार तत्कालीन भवनों में प्रायः चार द्वार होते थे तथा उनमें सुरक्षा के लिए अर्गला का प्रयोग होता था[3] जैमिनीय ब्राह्मण में भी छत युक्त गृह का उल्लेख प्राप्त मिलता है।[4]

भारतीय सूत्र ग्रन्थों में वास्तुशास्त्रीय ज्ञान प्राप्त होता है। डॉ० द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल के मतानुसार ये हमारे प्रारम्भिक वास्तुशास्त्र हैं।[5] इनमें प्राकार[6] एवं शालास्तम्भ[7] आदि वास्तुशास्त्रीय शब्दों का प्रयोग मिलता है। **शांख्यायन** गृह्यसूत्र एवं आश्वलायन में गृह-निर्माण का उल्लेख प्राप्त होता है।[8] गृहनिर्माणार्थ भूमि चयन के सिद्धान्तों, गृह में प्रयुक्त होने वाले द्वारों तथा चारों ओर लगने योग्य वृक्षों का उल्लेख भी सूत्र ग्रन्थों में प्राप्त होता है। सूत्र ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय यज्ञवेदियों की रचना विधि है जो कि वास्तुशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

वास्तुशास्त्र वेदांगों में विशेषकर ज्योतिष के उपांग के रूप में स्वीकृत है। ज्योतिष के अन्तर्गत वास्तुशास्त्र की भरपूर विषय सामग्री वर्णित मिलती हैं। जिसमें भूशोधन, दिक्शोधन, शल्योद्धार, मेलापक, आयाद्यानन, गृहोपकरण, इष्टिकाद्वार, गेहारम्भ, गृह-प्रवेश, मुहूर्त-गणना आदि विषयों का प्रभूत विवेचन मिलता है जो वास्तुशास्त्र सम्मत है। ज्योतिष शास्त्रीय प्रमुख ग्रन्थों में आचार्य वराहमिहिर रचित बृहत्संहिता तथा अग्निपुराण एवं मत्स्यपुराण में वर्णित वास्तुशास्त्र विषयक सामग्री विस्तृत एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

पुराणों में भी वास्तुशास्त्र के विषय में विस्तृत ज्ञान प्राप्त होता है। पुराणों में वर्णित वास्तुकला तत्कालीन समाज की समृद्धता एवं वैभव की उत्कृष्टता को प्रदर्शित करती है। वास्तुशास्त्रीय विषय सामग्री का विवेचन करने वालों में मत्स्य,

---

1. ऐतरेय ब्राह्मण 1/23/2
2. गोपथ ब्राह्मण 2/2/7
3. शतपथ ब्राह्मण 13/4/2/11; 1/6/1/19
4. जैमिनीय ब्राह्मण 2/163
5. वा० शा० भाग 1, पृ० 71
6. शांख्यायनश्रौत सूत्र 16/18/14
7. कात्यायन श्रौत सूत्र 7/1/36
8. वा० शा० भाग 1, पृ० 71

अग्नि, गरुड़, स्कन्द आदि पुराण प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त भविष्य [1], ब्रह्माण्ड[2], वायु[3], तथा नारद पुराण[4] में भी वास्तुशास्त्रीय सामग्री विवेचित मिलती है।

मत्स्य पुराण में वर्णित वास्तुशास्त्र के तथ्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मत्स्यपुराण के अध्याय 252 से लेकर अध्याय 270 तक वास्तुशास्त्र के सभी महत्त्वपूर्ण अंगों उपांगों का विस्तृत विवेचन किया गया है। मत्स्य पुराण को प्राचीन भारतीय वास्तुशास्त्र का मूल माना जा सकता है।[5] अष्यदश पुराणों में अग्नि पुराण का अपना विशिष्ट महत्त्व है। इस पुराण को समस्त भारतीय विद्याओं का विश्वकोश कहा जा सकता है। अग्नि पुराण में वास्तु से सम्बन्धित सोलह अध्याय हैं। डॉ० द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल के अनुसार अग्नि पुराण तथा गरुड़ पुराण में वास्तुविद्या से सम्बंधित अध्याय एक जैसे प्रतीत होते हैं।[6]

गरुड़ पुराण में भी वास्तुशास्त्र की पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। यद्यपि इस पुराण के दो अध्याय ही वास्तुशास्त्रीय विषय का वर्णन करते हैं तथापि इन में वास्तुशास्त्र के सभी महत्त्वपूर्ण अंगों राजप्रासाद, दुर्ग, उद्यान, मन्दिर, मठ तथा आवासीय, सैन्य एवं धार्मिक भवनों का वर्णन प्राप्त होता है।[7] इसमें मूल तथा मान के आधार पर विभिन्न प्रासादों को वैराज, पुष्पक, कैलास आदि पाँचों वर्गों में विभाजित किया गया है।[8] इन्हीं से चालीस प्रकार के प्रासादों की उत्पत्ति बताई गई है।[9] स्कन्द पुराण में वास्तुकला से सम्बन्धित विषय सामग्री तीन अध्यायों में वर्णित है इसमें नगर निर्माण[10], स्वर्णिम प्रधान कक्षों, रथों एवं कल्याण मण्डपों की निर्माण विधि का विवेचन प्राप्त मिलता है।[11]

---

1. भविष्य पुराण मध्यपर्व अ० 12, ब्रह्म पर्व अ० 130
2. ब्राह्मण्ड पुराण अ० 7
3. वायु पुराण भाग 1, अ० 39
4. नारद पुराण भाग 1, अ० 13
5. पुराण विमर्श, पृ० 151
6. वास्तुशास्त्र भाग 1, पृ० 79
7. गरूड़ पुराण अ० 46-47
8. गरूड़ पुराण अ० 47/19
9. एतेभ्यः एव सम्भूताः प्रासादः सुमनोहराः।
   सर्वप्रकृति भूतेभ्यश्चत्वारिंशच्च एव च।। गरूड़ पुराण अ० 47/21
10. स्वयं विश्वकर्मद्वारा निर्मापित महीनगरस्थापनवर्णनम्। स्कन्ध पुराण माहेश्वरखण्ड 2/25
11. वही, वैष्णव खण्ड अ० 25, माहेश्वरखण्ड, अ० 24

उपपुराणों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विष्णुधर्मोत्तरपुराण में वास्तुविषयक सम्बन्धित 43 अध्याय मिलते हैं। इनमें वास्तुकला, मूर्तिकला एवं चित्रकला तीनों का प्राधान्य हैं। इसे स्थापत्यकला का कोशग्रन्थ कहा जा सकता है। इस पुराण में गृहों, देवालयों, राजप्रसादों, दुर्गों, राजमार्गों, विभिन्न वणिकों और व्यवसाय जीवियों के बाजारों एवं भवनों का वर्णन प्राप्त होता है।[1]

वैदिक साहित्य एवं पुराणों के अतिरिक्त वाल्मीकि रामायण एवं महाभारत में भी प्रसङ्गवश वास्तुशास्त्रीय तथ्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। इन ग्रन्थों में प्राप्त वास्तुशास्त्रीय सामग्री का अपना ऐतिहासिक महत्त्व है।

वाल्मीकि रामायण में भारतीय स्थापत्य कला की अत्यन्त उन्नतावस्था का चित्रण प्राप्त होता है। इसमें नगरों, दुर्गों, प्रासादों आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है। रामायण काल में स्थपतियों की समाज में बहुत प्रतिष्ठा थी। विश्वकर्मा तथा मय का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया गया है।[2] रामायण में प्रयुक्त अनेक भूमि[3] तथा सप्तभूमि आदि शब्दों से अनेक तलों वाले भवनों का पता चलता है।[4] चतुःशाल, पद्म, स्वस्तिक, वर्धमान संज्ञक भवनों का उल्लेख भी रामायण में प्राप्त होता है।[5] अयोध्या, किष्किंधा, लंका जैसे नगरों की बनावट का वर्णन भी प्राप्त होता है।

महाभारत में वर्णित वास्तुशास्त्र के तथ्यों के आधार पर यह स्वतः ही सिद्ध हो जाता है कि महाभारत काल तक भारतीय वास्तुकला पर्याप्त विकास को प्राप्त कर चुकी थी। श्रीकृष्ण के आह्वान पर विश्वकर्मा द्वारा इन्द्रप्रस्थ नगर तथा राजप्रसाद निर्माण का वर्णन, भवन निर्माण कला के अद्भुत कौशल को दर्शाता है।[6] महाभारत में मिथिला, द्वारका तथा तैरने वाले नगर का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[7]

वैदिक साहित्य, पुराण, रामायण, महाभारत के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय वाङ्मय में मानसार, मयमतम्, शिल्पसूत्रम्, राजवल्लभमण्डनम्, विश्वकर्माविद्याप्रकाश, मानसोल्लास, तंत्रसमुच्चय, समरांगणसूत्रधार, वास्तुसौख्यम् आदि वास्तुशास्त्र के महनीय ग्रन्थ हैं।

1. विष्णुधर्मोत्तरपुराण अ० 29/6-7
2. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृ० 43
3. प्रासादैनैकभूमिभिः, वाल्मीकि रामायण, किष्किंधा काण्ड, सर्ग 33/8
4. सप्तभौमाष्टभौमैश्च, वही सुन्दर काण्ड सर्ग 2/50
5. पद्स्वस्तिक संस्थितैः वर्धमानगृहैश्चापि। वही सुन्दर काण्ड सर्ग 4
6. महाभारत आदि अ० 199
7. महाभारत सभापर्व एवं वनपर्व।

## वास्तुशास्त्र के प्रमुख आचार्य

वास्तुशास्त्र की अनवरत धारा प्राचीन काल से प्रवाहित होती चली आ रही है। इसकी प्राचीनता प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में उल्लिखित वास्तुशास्त्र के आचार्यों से स्वत: सिद्ध हो जाती है। वास्तुशास्त्र के आचार्यों के नाम भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न प्राप्त होते हैं तथा संख्या भी भिन्न-भिन्न है। अग्निपुराण में वास्तुशास्त्र के 25 आचार्यों का नामोल्लेख किया गया है।[1] जो निम्नलिखित है-

1. हयशीर्ष
2. त्रिलोकमोहन
3. विभव
4. पुष्कर
5. प्रह्लाद
6. गर्ग
7. गालव
8. नारद
9. सम्प्रश्न
10. शण्डिल
11. विश्वक
12. सत्य
13. शुनक
14. वशिष्ठ
15. ज्ञानसागर
16. स्वयम्भु
17. कपिल
18. तार्क्ष्य
19. नारायण
20. अत्रि
21. नरसिंह
22. आनन्द
23. अरुण
24. बौद्धायन
25. ऋषि

विश्वकर्मवास्तुशास्त्र[2] में 15 तथा सनत्कुमारवास्तुशास्त्र[3] में 11 वास्तुशास्त्र के आचार्यों का नामोल्लेख प्राप्त होता है। मानसार[4] की सूची में सर्वाधिक 32 आचार्यों की परिगणना की गई है। बृहत्संहिता[5] में वराहमिहिर ने वास्तुशास्त्रीय आचार्यों का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है किन्तु वास्तुशास्त्रीय विषय सामग्री के अध्ययन से

---

1. अ० पु० 39/1-5
2. वि० वा० अ० 18
3. वा० शा० भाग 1, पृ० 64
4. मा० सा० 68/5-9
5. बृ० स० अ० 53-57

वशिष्ठ, गर्ग, वृहस्पति, काश्यप, मनु, नग्नजित्, विश्वकर्मा, मय आदि वास्तुशास्त्रीय आचार्यों की संसूचना प्राप्त होती है।

मत्स्यपुराण में वास्तुशास्त्र के अष्यदश आचार्य माने गये हैं[1] जो निम्नलिखित हैं–

| | |
|---|---|
| 1. भृगु | 2. अत्रि |
| 3. वशिष्ठ | 4. विश्वकर्मा |
| 5. मय | 6. नारद |
| 7. नग्नजित् | 8. विशालाक्ष |
| 9. पुरन्दर | 10. ब्रह्मा |
| 11. कुमार | 12. नन्दीश |
| 13. शौनक | 14. गर्ग |
| 15. वासुदेव | 16. अनिरुद्ध |
| 17. शुक्र | 18. वृहस्पति |

रूपमण्डन ग्रन्थ की भूमिका में डॉ० बलराम श्रीवास्तव ने लिखा है कि अग्निपुराण और मानसार की सूची भ्रष्ट और काल्पनिक हैं और इनमें पुनरुक्ति दोष भी है।[2] इन आचार्यों में कुछ तो ज्ञानविज्ञान के अधिष्ठाता देवता, कुछ वैदिक तथा पौराणिक ऋषि एवं कुछ सामान्य शिल्पज्ञ आचार्य हैं। इनके अनुसार इन सूचियों में शिव, ब्रह्मा आदि देवताओं के नाम सम्भवतः वास्तुशास्त्र की अपौरुषेयता सिद्ध करने के लिए रखे गये हैं। इनमें कुछ आचार्यों के नाम से जो इस ग्रन्थ में प्राप्त होते हैं वह उनके रचयिताओं की भाँति प्राचीन प्रतीत नहीं होते। इनमें से प्रमुखतः विश्वकर्मा एवं मय ही ऐसे आचार्य हैं जो परम्परा से वास्तुशास्त्र के प्रणेता माने जाते हैं।

वास्तुशास्त्र के प्रणेता एवं महनीय आचार्य विश्वकर्मा प्रभावसु के पुत्र एवं वृहस्पति के भगिनेय (भानजे) थे।[3] इन्होंने ही इन्द्र की अमरावती नगरी का निर्माण किया था और वह संसार के सर्वप्रथम शासक महाराजा पृथु के समकालीन थे।

---

1. भृगुरत्रिविशष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा नारदो नग्नजिच्चैव विशलाक्षः पुरन्दरः।
   ब्रह्मा कुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च वासुदेव अनिरूद्धश्च तथा शुक्र वृहस्पतिः।।
   म० पु० 252/2-3
2. रूपमण्डन भूमिका, पृ० 1-2
3. सुतः प्रभासस्य विभोः स्वस्त्रीयश्च वृहस्पतेः। स० सू० भ० नि०

विश्वकर्मा के सम्बन्ध में भोज ने विशिष्ट विवरण प्रस्तुत किया है।[1] अग्नि पुराण में विश्वकर्मा को सहस्त्रों शिल्पों का रचयिता कहा गया है जिनसे मनुष्य अपना जीविकोपार्जन करते हैं।[2] गरुड़ पुराण में विश्वकर्मा को प्रसिद्ध देवशिल्पी कहा गया है।[3]

मानसार के विवरणानुसार विश्वकर्मा ब्रह्मा के चार मुखों से उत्पन्न चार स्थपतियों में से प्रथम थे।[4] भरत नाट्यशास्त्र के अनुसार विश्वकर्मा ने ब्रह्मा के कहने पर अल्पकाल में अभिनय कक्ष का निर्माण कर दिया था।[5] विश्वकर्मा द्वारा रचित अनेकों वास्तुशास्त्र के ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं यथा- विश्वकर्मप्रकाश, विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, विश्वकर्मसंहिता आदि।[6] इस प्रकार संस्कृत वाङ्मय में विश्वकर्मा से सम्बन्धित अनेकों उल्लेख प्राप्त होते हैं। जिनमें विश्वकर्मा का परिचय ज्ञात किया जा सकता है।

भारतीय स्थापत्य परम्परा में विश्वकर्मा के उपरान्त मय का नाम आता है। इन्हें असुरों का शिल्पी कहा गया है। महाभारत में पाण्डवों के सभा भवन निर्माण के लिए मय के वास्तुकौशल की महती प्रशंसा हुई है।[7] मय ने असुरों के आचार्य शुक्र से दीक्षा ली थी। इन्होंने ने ही अपने दामाद रावण के लिए अभेद्य लंका नगरी का निर्माण किया था। मानसार के अनुसार मय भी ब्रह्मा के चार मुखों से उत्पन्न चार स्थपतियों में से एक थे। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में मन्दिर निर्माण प्रसङ्ग में उनका मत उद्धृत किया है।[8] इन उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि मय की रचनायें

---

1. स० सू० भ० नि०, अ० 1
2. कर्त्ता शिल्पसहस्त्राणां त्रिदशानां च वर्द्धकिः।
   मनुष्याश्चोपजीवन्ति शिल्पं वै भूषणादिकम्।। अ० पु० 18/40
3. A Summary of Mansara n P.K Acharya Pg. 2
4. गरूड़ पुराण 6/5/36
5. ततस्तु विश्वकर्माणाह ब्रह्मा प्रयत्नतः।
   कुरू लक्षणसम्पन्नं नाट्यवेश्म महामते।।
   ततोऽचिरेण कालेन विश्वकर्मा शुभ महत्।
   सर्वलक्षणसम्पन्नं कृत्वा नाट्यगृहंत्, सः।। नाट्यशास्त्रम् 1/45-46
6. रूपमण्डन भूमिका पृ० 3
7. स० सू० भ० नि० भूमिका, पृ० 3
8. A Summary of Mansara n P.K Acharya Pg. 2

वराहमिहिर से पूर्व प्रचलित थीं। वर्तमान समय में मय के नाम से कुछ कृतियाँ प्राप्त होती हैं यथा मयमतम्, मयवास्तु, मयवास्तुशास्त्र तथा शिल्पशास्त्र। इनमें से मयमतम सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

भारतीय वास्तुशास्त्रीय परम्परा में विश्वकर्मा तथा मय का सर्व प्रमुख स्थान है। इनमें से विश्वकर्मा औदीच्य अथवा नागर-वास्तु परम्परा के तथा मय द्राविड़ परम्परा के आचार्य माने जाते हैं। विश्वकर्मा तथा मय के अतिरिक्त नारायण भट्ट, रामदैवज्ञ, केशवदैवज्ञ, माण्डव्य, लल्ल, श्रीपति, ब्रह्माशम्भु, कालिदास, वराहमिहिर, टोडरमल, भास्कर, शार्ङ्गधर इत्यादि वास्तुशास्त्र के महनीय विद्वान् माने गये हैं।

## वास्तुसौख्यम्कार का जीवन वृत्त विवरण

वास्तुसौख्यम्कार के जन्म स्थान के विषय निर्धारण में पर्याप्त मतभेद देखने को मिलते हैं। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि इनका जन्म लाहौर के पास चुनियाँ गाँव के खत्री परिवार में हुआ होगा।[1] अनेक इतिहासकार इनका जन्म अवध के किसी कायस्थ परिवार में मानते हैं।[2] अधिकांश विद्वानों का मत है कि टोडरमल का जन्म लहरपुर उत्तरप्रदेश के क्षत्रिय परिवार में हुआ। बाद में वह मुगल सम्राट अकबर के दरबार में वित्तमंत्री बनें। उन्हें आगरा का भी भार सौंपा गया।

टोडरमल मुगल काल में राजा अकबर के नवरत्नों में से एक थे। इनका वास्तविक नाम 'अल्ल टण्डन' था। वह समझदार लेखक और वीर सेनापति तथा सम्मतिदाता थे। अकबर की कृपा से बड़ी उन्नति करके चार हज़ारी तथा अमीरों के शासन के नवम वर्ष में सन् 1554 ई० में टोड़रमल ने मुजफ्फ़र खाँ की अधीनता में कार्य आरम्भ किया था।[3]

## कुशल शासक एवं योद्धा

टोडरमल एक वीर योद्धा भी थे। सन् 1572 ई० गुजरात की लड़ाई में अकबर के सेनापति थे तथा इस युद्ध में इनकी विजय हुई। टोडरमल इतने वीर योद्धा थे कि उन्होंने सूरत के दुर्ग को देखकर यह अनुमान लगा लिया था कि दुर्ग पर हम विजय प्राप्त कर सकते हैं। सम्राट अकबर ने गुजरात की विजय के उपरान्त राज्य के प्रबन्ध का कार्य टोडरमल को दे दिया। टोडरमल ने कोष के विभाग की जाँच कर न्यायपरता

---

1. बृ० स० 56/29
2. हिन्दी विश्वकोश, खण्ड 5, पृ० 180
3. टोडरानन्दम्, पृ० XX से उद्धृत

के साथ निश्चित कर कर्मचारियों के वेतन का निर्धारण किया। सन् 1574 में राजा टोडरमल मुनइम खाँ खानखानाँ की सहायता के लिए बंगाल मे नियुक्त किया गया। यद्यपि सेनापतित्व खानखानाँ के हाथ में था परन्तु सैन्य संचालन, सैनिकों को उत्साह दिलाने, साहस पूर्ण कार्य करने तथा विद्रोहियों और शत्रुओं को दण्ड देने में राजा टोडरमल ने बड़ी वीरता दिखाई। दाऊद खाँ किर्रानी के युद्ध में (जब खाने आलम हरावल में मारा गया और खानखाना कई घाव खाकर भाग गया तब भी) टोडरमल दृढ़ता से डटा रहा और बहुत प्रयत्न करके ऐसी पराजय को विजय में परिणत कर दिया। इसके अनन्तर बंगाल में प्रबन्धन कार्य ठीक हो जाने पर बादशाह के पास पहुँचकर पूर्ववत् माली और देश के कार्यों में लग गया। जहाँ तक गुजरात के प्रबन्धन का सम्बन्ध है वजीर खाँ की ढिलाई से वहाँ अशान्ति तथा गड़बड़ी थी। इसलिए टोडरमल को उस प्रान्त का प्रबन्ध करने के लिए अकबर द्वारा नियुक्त किया गया। यह बुद्धिमानी, कार्यदक्षता, वीरता तथा साहस के साथ सुल्तानपुर और नदरबार से बड़ौदा और चम्पानेर तक प्रबन्धन ठीक करके अहमदाबाद आए एवं बजीर खाँ के साथ न्याय करने में तत्पर हुए।

राजा अकबर ने टोडरमल की प्रशासनिक योग्यताओं से प्रभावित होकर उसे वजीर का पद दिया। उन्होंने भारत में पहली बार सांख्यिकी-विदों के एक रूप के बारे में सोचा। भारतीय उपमहाद्वीप और पड़ोसी देशों में शताब्दियों से मौलिक डेटा संग्रह का श्रेय भी टोडरमल को जाता है। भूमि विभाग अर्थात् राजस्व विभाग के प्रबन्धन का श्रेय भी इनको दिया जाता है। इन्होंने एक सुव्यवस्थित प्रणाली राजस्व विभाग की बनाई। टोडरमल ने कर व्यवस्था का भी उचित प्रबन्ध किया। इनकी यह राजस्व व्यवस्था उपमहाद्वीप में बड़ी प्रसिद्ध हुई है। टोडरमल ने खेती की फसलों की पैदावार तथा मूल्यों का एक उचित सर्वेक्षण किया। इस आधार पर कर नकद के रूप में तय किया गया। प्रत्येक प्रान्त राजस्व हलकों में विभाजित किया गया था।

### आर्थिक सुधार

राज्य की व्यवस्था अर्थ पर निर्भर करती है। हिन्दुस्तान में सुल्तानों और प्राचीन राजाओं के समय से छठा भाग कर के रूप में लिया जाता था। टोडरमल ने भूमि के कई विभाग जैसे पहाड़ी, पड़ती, ऊसर और बंजर आदि किए। उपजाऊ और अन्न उपजाऊ खेतों को नाप करके उसकी नाप बीघा, विस्वा और लाठा से लेकर हर प्रकार के अन्न के प्रति बीघा नकद और कुछ पर अन्न का जिसे बंटाई कहते हैं लगाया। पहले सैनिकों के वेतन पैसों में दिए जाते थे, इससे टोडरमल ने रुपये को चालीस दाम

का निश्चित कर प्रत्येक स्थान की आय का हिसाब लगाकर मनुष्यों को वेतन के बदले में बाँटा जिसे जागीर कहते है।

**नए सिक्कों का प्रयोग**

टोडरमल से पहले पैसों के सिवाय और कोई सिक्का नहीं था तथा सरदारों, राजदूतों और कवियों को पुरस्कार देने के लिए चाँदी में ताँबा मिला कर सिक्का बनाते थे तथा चाँदी का तनका नाम देकर काम में लाते थे। परन्तु राजा टोडरमल ने बेमिलावाट के ग्यारह माशे सोने की अशरफी और साढ़े ग्यारह माशे चाँदी का रुपया ढलवाया। इस नई बात का पता इसी से अधिक लगता है कि उस पर संवत् लिखा हुआ मिलता है।

**वास्तु विशेषज्ञ**

टेडरमल न केवल वीर सैनिक अपितु वास्तुविद् भी थे। उनकी कृति वास्तुसौख्यम् से ज्ञात होता है कि वह गृह निर्माण की अनेक विधियों के ज्ञाता थे। उन्होंने भू परीक्षण, गृह-निर्माण, द्वार, गृह-प्रवेश इत्यादि विषयों पर अपने अनेक तर्क प्रस्तुत किए हैं।

**विश्वनाथ मन्दिर निर्माण**

टोडरमल ने 1585 ई० में वाराणसी में काशी विश्वनाथ मन्दिर का निर्माण करवाया। 1586 ई० में टोडरमल लाहौर चला गया तथा 8 नवम्बर 1589 को लाहौर में ही उनकी मृत्यु हो गई। इस प्रकार अकबर के दरबार में अपने 30 वर्षों के कार्यकाल ने विश्वनाथ मन्दिर के निर्माण से लेकर हिन्दू राजाओं को परास्त करने के बाद भी शास्त्रों का सम्पादन कराकर हिन्दू धर्म के प्रति अपना समर्पण भाव दिखाया है।

**वास्तुशास्त्र में टोडरमल का स्थान निरूपण**

मानव के जन्म लेने के उपरान्त ही उसके रहने की समस्या सामने आई होगी। फलतः उसने अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुसार छोटी-छोटी कुटियों एवं झोपड़ियों का निर्माण किया होगा। जैसे कि ऋषि-मुनियों के आश्रमों में बने हुए कुटियों के अध्ययन से संसूचित होता है। वास्तव में वास्तु उसे कहते हैं जहाँ सुख शान्ति पूर्वक मनुष्य निवास करता है। "वसन्ति प्राणिनो यत्र" रूप में वास्तु को परिभाषित किया जा सकता है दूसरे शब्दों में वह स्थान या भूमि, जहाँ प्राणी (मानव) निवास करते हैं। वास्तु कहलाती है और इस वास्तुविधान को निर्देशित करने वाले ग्रन्थ वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थ कहलाते हैं जिनमें महाराजाधिराज टोडरमल विरचित वास्तुसौख्यम् भी आता है।

भारतवर्ष में भवन निर्माण की कला प्राचीन काल से ही लोगों को ज्ञात थी, क्योंकि इस कला में मनुष्यों के दक्ष होने के प्रमाण हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ों की सभ्यता के अध्ययन में प्रचुर रूप में उपलब्ध मिलते हैं साथ ही सभी वैदिक संहिताओं में भी वास्तुकला के वर्णन के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। अथर्ववेद संहिता के "शाला सूक्त" में विशेष रूप से स्थापत्य (वास्तु) कला का वर्णन मिलता है। वास्तु विद्या के बीज भी अथर्ववेद में मिलते हैं क्योंकि अथर्ववेद से उद्भुत स्थापत्य वास्तुशास्त्र का उपजीव्य है। ऐसा भागवतमहापुराण से भी प्रमाणित होता है यथा -

**ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यान् वेदान् पूर्वादिभिर्मुखैः।**
**शस्त्रमिज्यां स्तुतिस्तोमं प्रायश्चितं व्यधात्क्रमात्।।**
**आयुर्वेदं धनुर्वेदं गान्धर्वं वेदामात्मनः।**
**स्थापत्यं चासृद् वेदं क्रमात्पूर्वादिभिर्मुखैः।।**
**इतिहास पुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः।**
**सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः।।**

स्थापत्य विद्या का पोषण ऋषियों द्वारा किया गया है क्योंकि मत्स्यपुराण में शिल्पशास्त्र के उपदेशक अट्ठारह आचार्यों का वर्णन मिलता है। इन आचार्यों में मय एवं विश्वकर्मा अत्यधिक प्रसिद्ध थे। विश्वकर्मा औदीच्यपरम्परा के तथा मय दाक्षिणात्यपरम्परा के दीपस्तम्भ माने जाते हैं। समराङ्गणसूत्रधार के अनुसार प्रभावसु के पुत्र विश्वकर्मा देवगुरु बृहस्पति के भागिनेय एवं अपराजितपृच्छा के अनुसार भृगु (शुक्राचार्य) के भागिनेय थे। ये दोनों ऋषि शिल्पशास्त्र के महनीय उपदेशक थे। नल एवं नील के साथ अष्टावसुओं की ख्याति भी शिल्पज्ञ रूप में प्रथित हैं। आधुनिक वास्तुशास्त्रविद् टोडर महोदय ने कुछ प्रमुख वास्तुविदों के होने की संसूचना भी दी है।[1]

यदि वास्तुशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में आचार्य टोडरमल के अस्तित्व की बात की जाए तो अथर्ववेद के शालासूक्त के अनन्तर आचार्य वराहमिहिर कृत बृहत्संहिता एवं महर्षि व्यास रचित अग्निपुराण, मत्स्यपुराण, विष्णुपुराण के अनन्तर विश्वकर्मप्रकाश का स्थान आता है जो विश्वकर्मा रचित ग्रन्थ है। तदनन्तर मयदानव रचित मयमतम्,

1. वशिष्ठगर्गब्रह्मोक्तं विश्वकर्मादिनिर्मितम्।
वराहलल्लव्याख्यातं शास्त्रतत्त्वं विमृश्य च।।
निरूपयामो विदुषां सन्तुष्ट्यै वास्तु निर्णयम्।
यथामतिं धनारोग्यसौख्यकीर्तिविवृद्धये।। वा० सौ० 4-5

उसके बाद रचित समराङ्गणसूत्रधार का स्थान आता है। जो वास्तुशास्त्र का महनीय ग्रन्थ माना जाता है। वास्तुशास्त्रीय मानसार ग्रन्थ के अनन्तर शिल्परत्न नामक वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थ वास्तुशास्त्रीय कलेवर में परिगणित मिलता है। जो आचार्य श्रीकुमार की रचना मानी जाती है एवं उसका समय 16वीं शताब्दी के आस-पास माना जाता है। आचार्य टोडरमल द्वारा विरचित वास्तुसौख्यम् भी 16वीं शताब्दी की रचना मानी जाती है क्योंकि टोडरमल सम्राट अकबर के सेनापति होने के साथ-साथ वित्तमंत्री एवं राजस्व मंत्री भी थे। टोडरमल को अकबर के नवरत्नों में से एक माना जाता है। इस तरह टोडरमल एवं श्रीकुमार समकालीन वास्तुविद् सिद्ध होते हैं। टोडरमल ने वास्तुसौख्यम् में विशेष करके घर की भौतिक उपयोगिता के साथ-साथ अध्यात्मिक आवश्यकता को सूक्ष्म रूप से व्याख्यायित किया है और ग्रन्थ के सृजन में वराहमिहिर के सिद्धान्तों के साथ-साथ लल्ल द्वारा वर्णित, वसिष्ठ, गर्ग, ब्रह्म, शम्भू, विश्वकर्मा, कश्यप आदि के सिद्धान्तों का अनुसरण किया है।[1] इस रूप में माना जा सकता है कि वास्तुसौख्यम् औदीच्यपरम्परा का महनीय ग्रन्थ हैं। स्वयं ग्रन्थकार ने यह विवेचित किया है कि शुभ संपादित गृह में निर्मित गृह में उत्पन्न होने वाला बालक राजा अथवा कुबेर के समान धनी होता है यथा -

**"श्रवणाषाढयोश्चैव रोहिण्यां चोत्तरात्रये।**
**गुरूवारे कृतं वेश्म राजयोगेन युज्यते।।**
**तदगृहे जातपुत्रस्य राज्यं भवति निश्चितम्।"**

• • •

1. गर्गात्पराशर: प्राप्तस्तस्मात्प्राप्तौ बृहद्रथ:।
बृहद्रथाद् विश्वकर्मा प्राप्तवान् वास्तुशास्त्रकम्।।
स विश्वकर्मा जगतो हितायाकथयत् पुन:।
वासुदेवादिषु पुनर्भूलोके भक्तितोऽब्रवीत्।। वा० सौ० भू० पृ० 3

# 2
# वास्तुपुरुष की परिकल्पना

भारतीय चिन्तन धारा के आदि स्रोत के रूप में वेद ही सभी शास्त्रों के मूल है। यह सर्वविदित है कि चार वेदों के चार उपवेद भी विख्यात है यथा- ऋग्वेद का आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गान्धर्व और अथर्ववेद का स्थापत्य वेद। स्थापत्य वेद का अभिप्राय ही निवास योग्य भूमि की स्थापना से है। वास्तु शब्द का अभिप्राय ही निवास से है। वास्तु शब्द "वस् निवासे" धातु से तुण् प्रत्यय के योग निष्पन्न होता है। जहाँ मनुष्य निवास करते हैं उसे वास्तु कहा जाता है।[1] वास्तुविदों ने वास्तु को परिभाषित करते हुए कहा है कि "वसन्ति प्राणिनो यत्र" इति वास्तुः।[2] इस प्रकार जो प्राणी जहाँ रहता है उसके लिए वही वास्तु है। हलायुधकोष के अनुसार "वास्तुसंक्षेपतो वक्ष्ये गृहादौ विघ्ननाशनम्। ईशान कोणदारभ्य ह्योकाशीतिपदेत्यजेत्।।"[3] अर्थात् वास्तु संक्षेप ईशानादि कोण से प्रारम्भ होकर गृहनिर्माण की वह कला है जो घर को विघ्न, प्राकृतिक उत्पातों एवं उपद्रवों से बचाती है। अमरकोश के अनुसार "गृहरचनावच्छिन्न भूमे"।[4] अर्थात् गृह रचना के योग्य अविच्छिन्न भूमि को वास्तु कहते हैं। अमरकोश[5] में वास्तु शब्द के लिए "वेश्मभूर्वास्तुरस्त्रियाम्" अभिहित किया गया है।मनुस्मृतिकार का कहना है कि "खेरविषये वास्तु किं दीपः प्रकाशयेत्"[6] शब्दार्थचिंतामणि[7], पद्मचंद्रकोष, [8] शब्दस्तोममहानिधि[9] एवं शब्दार्थभानु[10] कोश

1. हिन्दी विश्वकोश, खण्ड 21, पृ० 236
2. शब्दकल्पद्रुम, भाग 4, पृ० 258
3. हलायुध कोश, पृ० 606
4. अ०को० द्वितीय काण्ड, पृ० 140
5. वही 2/3/19
6. म० स० 3/89
7. शब्दार्थचिंतामणि कोश, पृ० 295
8. पद्मचंद्रकोश, पृ० 348
9. शब्दस्तोममहानिधि, पृ० 1023
10. शब्दार्थभानु, पृ० 287

ग्रन्थों में भी वास्तु शब्द का अर्थ गृहकरण योग्य भूमि अथवा वासयोग्य भूमि बताया गया है। कुछ विद्वानों ने वास्तु के दो अर्थ किये हैं गृह निर्माण का स्थान तथा गृह अथवा भवन।[1] परन्तु ऋग्वेद में वास्तु शब्द का प्रयोग गृह के लिए हुआ है।[2]

शब्दार्थकौस्तुभ[3] में भी गृह निर्माण योग्य भूमि को वास्तु कहा गया है। इस प्रकार सामान्यतः निवास योग्य भूमि को वास्तु कहा जाता है।

## वास्तु का विस्तृत अर्थ एवं क्षेत्र

वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में वास्तु का अर्थ व्यापक रूप में विवर्णित मिलता है। विश्वकर्मवास्तुशास्त्र के अनुसार देवता, मनुष्य तथा गज, गो और अश्वादि पशु यहाँ निवास करते हैं उसे वास्तु कहा जाता है।[4] मयमतम् में अमर अर्थात् देवता तथा मरणधर्मा अर्थात् मनुष्य जहाँ-जहाँ निवास करते हैं। उसे वास्तु कहा गया है।[5] इसके अतिरिक्त गृह निर्माण में प्रयुक्त होने वाली सामग्री एवं मनुष्य जिन वस्तुओं का प्रयोग अपनी सुविधा के लिए करता है उन्हें भी वास्तु कहा जाता है। विश्वकर्म-वास्तुशास्त्र के अनुसार इष्टिका, शिला, वृक्ष तथा कीलादि सभी को वास्तु संज्ञक माना गया है।[6] मयमतम् के अनुसार वास्तु चार प्रकार के होते हैं। भूमि, प्रासाद, यान एवं शयन। इनमें भूमि ही प्रधान वास्तु है क्योंकि शेष सभी इसी से उत्पन्न होते हैं। भूमि से पैदा होने एवं उस पर आश्रित होने के कारण ही इन्हें वास्तु कहा गया है।[7] मानसार में भी धरा, हर्म्य (प्रासाद) यान एवं पर्यङ्क (शयन) का सङ्कीर्तन वास्तु के रूप में किया गया है तथा भूमि को प्रधान वास्तु कहा गया है।[8] कौटिल्य अर्थशास्त्र में वास्तु को अत्यन्त विस्तृत अर्थ में परिभाषित किया गया है यथा –

1. अष्ट्यध्यायी 7/2/73, Dictionary of Indian Architecture, P.K.Acharya. Pg. 548
2. ऋग्वेद 1/15/16, 7/54/1-3, 7/55/1
3. संस्कृतशब्दार्थ कौस्तुभ, पृ० 1008
4. देवतानां नराणाञ्ज गजगोवाजिनामपि।
   निवास भूमिश्शल्पज्ञैर्वास्तुसंज्ञमुदीरितम्।। वि० वा० 7/1
5. अमर्त्याश्चैव मर्त्याश्च यत्र-यत्र वसंति हि।
   तद वस्त्विति मतं ...... ........ ।। म० म० 2/1
6. इष्टिका च शिला दारूरयः कीलादयोऽप्यमी।
   वास्तुकर्मणि चान्यत्र वास्तुसंज्ञमुदीरित।। वि० वा० 7/61
7. म० म० 2/23
8. धरा हर्म्यादि यानं च पर्यङ्कादि चतुर्विधम्।
   धरा प्रधानवस्तु स्यात्तत्त ज्जांतिषु सर्वशः।। मा० सा० 3/2

**"गृह क्षेत्रमारामः सेतुबंधस्तटाकमाधारो वा वास्तुः"।**[1]

इस प्रकार वास्तु से तात्पर्य केवल साधारण मानव में रहने योग्य भवन ही नहीं, अपितु राजभवन, प्रासाद, ग्राम, नगर, रथ्या, मार्ग, प्राकार, परिखा, मन्दिर, अथवा देवालय, मण्डप, यज्ञ-वेदी, सभागृह, कूप, तालाब, वापी, स्तूप आदि उन सभी निर्माणों से है जो मानव के रहने योग्य, उपयोग करने योग्य तथा इनके निर्माण में प्रयुक्त होता है।

वराहमिहिर ने वास्तु शब्द का प्रयोग सीमित रूप से आवासीय गृह के अर्थ में किया है। समय के परिवर्तन के साथ वास्तु का तात्पर्य व्यापक होता गया तथा इसके अंतर्गत निवासयोग्य गृहों के साथ-साथ चल सामग्री, यान एवं मूर्तियाँ भी सम्मिलित हो गयीं।[2] डॉ० द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल के अनुसार वास्तु शब्द ग्रामों, पुरों, दुर्गों, पत्तनों, पुरभेदनों, आवासभवनों, एवं निवेश्य भूमि का वाचक है। साथ ही मूर्तिकला एवं पाषाणकला भी वास्तुकला की सहचरी है।[3]

समराङ्गणसूत्रधार में वास्तु का परिक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत बताया गया है। इसमें महासभा (भूमि) का आगमन, सौरमण्डल की गतिविधियाँ, सम्पूर्ण पृथ्वी का निवेशोपक्रम वसति योग्यता, वासस्थान, जनपदनिवेश तथा सृष्टि विभाग एवं भूगोलादि का वर्णन वास्तु के अंतर्गत किया है।[4] डॉ० शुक्ल के अनुसार जब समस्त भूमण्डल और सौरमण्डल वास्तु का विषय है तो वास्तु को गृह निर्माण की सीमा में बाँधना अभिशाप है क्योंकि वास्तुब्रह्म प्रकल्पना को ही वास्तुशास्त्रीय तथ्यों का मूल माना जाता है।[5]

व्यवहारिक प्रयोग में कभी-कभी वास्तु के लिए शिल्प शब्द का प्रयोग भी देखा जाता है लेकिन यहाँ यह कहना अभीप्सित प्रतीत होता है जिसमें भवन, प्रासाद, मन्दिर आदि की दीवारों में अथवा उनके कोष्ठों में चित्रकारी की जाती है डॉ० प्रसन्न कुमार आचार्य का भी यही अभिमत है जहाँ वह An Encyclopedia of Indian Architecture की भूमिका में लिखते हैं कि शिल्पशास्त्र वास्तु शास्त्र के अन्तर्गत

---

1. अ० शा० 3/8
2. बृ० सं० अ० 53, 56
3. भारतीय स्थापत्य, द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, पृ० 17 से उद्धृत
4. स० सू० भ० नि० अ० 1, 3, 4, 5
5. स० सू० भ० नि०, भूमिका, पृ० 11

ही समाहित किया जाना चाहिए।[1] डॉ० द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल ने शिल्प कला को वास्तुशास्त्र के अंग के रूप में स्वीकार करते हुए कहा है कि मेरी धारणा के अनुरूप वास्तुशास्त्र के निम्नलिखित अंग है - वास्तु, शिल्प, तथा चित्र। ये तीनों एक दूसरे के उपकारक हैं। इन्हीं तथ्यों को अनुशासित करने वाले शास्त्र को वास्तुशास्त्र कहते हैं।[2]

### वास्तुपुरुष की उत्पत्ति

वास्तुपुरुष की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में वर्णन प्राप्त होता है। भारतीय वास्तुशास्त्र में निवास योग्य स्थान की कल्पना पुरुष रूप में की गई है। वास्तुपुरुष की उत्पत्ति के सन्दर्भ में मत्स्यपुराण में प्राप्त कथा अत्यन्त रोचक एवं महत्त्वपूर्ण हैं उसके अनुसार प्राचीन-काल में अन्धक नामक असुर के वध के लिए जब भगवान शिव ने विकराल रूप धारण किया तब उनके ललाट प्रदेश से स्वेद बिन्दु पृथ्वी पर गिरा तथा गिरते ही उस बिन्दु से विकराल रूप वाला एक अद्‌भुत प्राणी उत्पन्न हुआ तथा सप्तद्वीपों सहित वसुंधरा पृथ्वी को खाने को उद्यत हुआ और पृथ्वी पर गिरे हुए अन्धकासुर के रक्त बिन्दुओं का पान कर गया। रक्तपान से भी जब वह संतुष्ट नहीं हुआ तो अतिक्षुधा से व्याकुल होकर तीनों लोकों का आहार करने में समर्थ वह विचित्र प्राणी भगवान् सदाशिव के समक्ष तपस्या करने लगा। कुछ दिनों बाद भैरव ने संतुष्ट होकर उसे वर माँगने को कहा तो उसने तीनों लोकों को ग्रसित लेने का सामर्थ्य मांगा। इस प्रकार वर प्राप्त कर वह विचित्र प्राणी अपने विशाल शरीर से तीनों लोकों (स्वर्ग, सम्पूर्ण भूमण्डल एवं आकाश) को छेंकते हुए भूमि पर गिर पड़ा। तब भयभीत चित्त देवताओं, ब्रह्म, शिव, समस्त दानव, दैत्य एवं राक्षसों ने उसे ऊपर चढ़कर चारों ओर से रोक लिया। जिस-जिस देवदानव ने उसके शरीर के जिस अंग को दबाया था उनका वही स्थान निश्चित हुआ। सभी देवताओं का निवास होने के कारण वह वास्तु नाम से अभिहित हुआ।[3] अग्निपुराण[4] में भी

---

1. An Encyclopedia of Indian Architecture, Introduction Pg. 11
2. स० सू० भ० नि०, भूमिका, पृ० 19
3. म० पु० 252/5-14
4. पूर्वमासीन्महद्भूतं सर्वभूतभयङ्करम्।
   तद्देवैर्निहितं भूमौ स वास्तुपुरुषः स्मृतः।। अ० पु० 40/1

वास्तुपुरुषोत्पत्ति का वर्णन मिलता है। विष्णुधर्मोत्तर[1] तथा सूत्रधारमण्डन[2] ने भी वास्तुपुरुष की उत्पत्ति के सन्दर्भ में इसी मत का समर्थन किया है।

बृहत्संहिता[3] के अनुसार प्राचीन काल में अपने शरीर में पृथ्वी और आकाश को ढाकने वाला कोई अपरिचित व्यक्ति उत्पन्न हुआ। उसको सहसा देवताओं ने पकड़कर नीचे मुख करके पृथ्वी पर स्थापित कर दिया। उस समय जो देवता जिस अंग को पकड़े थे उन्होंने उस अंग में अपना घर बना लिया, उस देवमय अपरिचित व्यक्ति को ब्रह्मा जी ने वास्तु पुरुष के नाम से कल्पित किया था।

बृहद्वास्तुमाला[4] में वास्तुपुरुष की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सत्ययुग के आरम्भ में एक महान् प्राणी उत्पन्न हुआ जो अपने विशाल शरीर से समस्त भुवनों में व्याप्त था। इसको देखकर देवराज इन्द्र सहित सभी देवता भय एवं आश्चर्य चकित थे, तदनन्तर उन्होंने क्रुद्ध होकर उस असुर को पकड़कर उसका शिर नीचे करके भूमि में गाढ़ दिया और स्वयं वहाँ खड़े रहे। इसी का नाम ब्रह्मा ने वास्तुपुरुष रखा। इस प्रकार वास्तुपुरुष वैदिक काल में अधिष्ठाता बन गया। इसी प्रकार से 'हरिवंश पुराण' का प्रवचन भी यही रहस्य उद्घाटित करता है कि निवेश्य वास्तु में पुरुष की प्रकल्पना से उस पद विशेष की सत्ता का विश्व की सत्ता के साथ एकात्म स्थापित करना अभिप्रेत होता है।[5]

---

1. विष्णुधर्मात्तरपुराण खण्ड 3, अध्याय 95
2. सङ्गाधेऽन्धकरूद्रयोश्च पतितः स्वेदो महेशात् क्षितौ
   तस्माद् भूतमभूच्च भीतिजननं द्यावापृथिव्योर्महत्
   तद्दैवेः रभसा विगृह्य निहितं भूमावधोवक्त्रकम्,
   देवानां वसनाच्च वास्तुपुरुषस्तेनैव पूज्यो बुधैः।। रा० व० म० 2/1
3. किमपि किल भूतमभवद्रुन्धान रोधसी शरीरेण।
   तदमरगणेन सहसा विनिगृह्याधोमुखं न्यस्तम्।।
   यत्र च येन गृहीतं विबुधेनाधिष्ठितः स तत्रैव।
   तदमरमयं विधाता वास्तुनरं कल्पयामास।। वृ० सं० 53/2-3
4. पुरा कृतयुगे ह्यासीन्महद्भूतं समुत्थितम्।
   व्याप्यमानं शरीरेण सकलं भुवनं ततः।।
   तद्दृष्ट्वा विस्मयं देवा गताः सेन्द्रा भयावृताः।
   ततस्तैः क्रोधसन्तप्तैर्गृहीत्वा तमथासुरम्।।
   विनिक्षिप्तमधोवक्त्रं स्थितास्तत्रैव ते सुराः।
   तमेव वास्तुपुरूषं ब्रह्मा कल्पितवान् स्वयम्।। वृ० वा० मा० 1-3
5. विस्तृत विवरण हेतु द्रष्टव्य - हरिवंश पुराण - प्रथम अध्याय

मनुष्यालयचंद्रिका में वास्तु-पुरुष की उत्पत्ति का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि प्राचीन काल में अपने बाहुबल एवं पराक्रम आदि के गर्व से लोगों को आक्रान्त करता हुआ देवों का शत्रु वह दैत्य युद्ध क्षेत्र में घायल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा, तत्पश्चात् उसने पृथ्वी एवं मनुष्यों को कंपकपाते हुए सभी ओर से घेरते हुए व्याप्त कर लिया। मुनिश्रेष्ठों और यज्ञीय अग्नियों का भी स्थिर रहना कठिन हो गया है। जिस प्रकार आकाश सम्पूर्ण पृथ्वी को व्याप्त कर लेता है उसी प्रकार उस विशाल दैत्य ने अपने विकराल शरीर से सम्पूर्ण पृथ्वी को व्याप्त कर लिया। वह विशेष रूप से नगर, पुर, वास्तु-क्षेत्र खण्ड एवं आङ्गन आदि पर उत्तान (उर्ध्वमुख) लेटा था उसका शिर ईशान कोण एवं पैर नैर्ऋत्य कोण में थे। इसी दशा में उसी समय देवगण उसके शरीर पर सदा के लिए स्थिर होकर स्थित हो गये।[1]

मेरुतन्त्र में वास्तुपुरुष की उत्पत्ति की कथा सबसे पृथक् प्राप्त होती है। इसके अनुसार वास्तुसंज्ञक असुर ने तीनों लोकों को जीतकर प्रजापति पद प्राप्त किया तथा देवर्षि नारद की प्रेरणा से विष्णु के साथ युद्ध करने को उद्यत हुआ। विष्णु की माया से मोहित होकर मदान्ध असुर ने विष्णु से इच्छानुसार वर माँगने को कहा। विष्णु ने उससे उसकी मृत्यु का वर मांगा। अपने वचन की रक्षा हेतु उसने प्राण त्याग दिये। उसी समय अशरीरी वाक् के अनुसार उसे नवीन गृह के निर्माण काल में पूज्य देवता का पद प्राप्त हुआ तथा उसका शरीर भूमि पर बिल बनाता हुआ भूमि के भीतर प्रविष्ट हो गया। देवों ने उस बिल को मिट्टी एवं प्रस्तरों से भर दिया एवं उसके पुनरागमन से आशंकित होकर उसके ऊपर बैठ गए। वास्तु असुर के साथ-साथ उन 53 देवताओं को भी वास्तुदेवता के मण्डल में सम्मिलित कर लिया गया। इस प्रकार 53 देवों से युक्त वास्तु नवीन गृह के निर्माण एवं प्रवेश के समय पूजनीय देवता बन गया।[2]

---

1. आसीद् दैत्यः प्रदृप्तो निजभुजबलवीर्यादिनाक्रान्तकाष्ठानिष्ठो
   द्वेष्या सुराणां स तु युधि पतितो विद्धगात्रो धरित्र्याम्।
   व्याप्तः सर्वत्र पष्चाद् बहुतर परिवृत्यैव पृथ्वीं विमथ्नन्
   मर्त्याःदुःस्था मुनीद्रास्त्वपि च मुखभुजस्तावदेवं बभूवुः।।
   सर्वव्याप्तेऽप्युमुष्मिन्नतनु तनुघटाभ्यंतरे व्योम यद्वत्
   तद्वन्नित्यं विशेषान्नगर पुरमहीक्षेत्र खण्डाङ्गणादौ।
   उत्तानो नैर्ऋताशाविनिहित चरणे यावदीशात्त शीर्षे
   जाते तावन्निपेदुः स्थिरमिह बिबुधास्तस्य देहे क्षणेन।। मनु० चं० 2/27-28
2. मेरूतन्त्र 3/143-161

अपराजितपृच्छा,[1] ईशानशिवगुरुदेव-पद्धति,[2] तथा शिल्परत्नम्[3] आदि ग्रन्थों में वास्तुपुरुष की उत्पत्ति के सन्दर्भ में भिन्न-भिन्न मत प्राप्त होते हैं जिसके अनुसार वास्तुपुरुष की उत्पत्ति शुक्राचार्य के यज्ञ से मानी गई है।

वास्तुपुरुष के अंगों पर स्थित देवताओं की स्थिति के सन्दर्भ में विभिन्न वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है। समराङ्गणसूत्रधार[4] में वास्तुपुरुष के विभिन्न अंगों पर स्थित देवताओं की स्थिति निम्नवत् होती है :

| | | |
|---|---|---|
| शिर | – | अग्नि |
| नेत्रद्वय | – | दिति एवं वरुण |
| कर्णद्वय | – | जयंत एवं अदिति |
| मुख | – | वायु |
| दक्षिण भुज | – | सूर्य |
| वाम भुज | – | चन्द्रमा |
| वक्ष: स्थल | – | आपवत्स, महेन्द्र, चरक |
| दक्षिण स्तन | – | अर्यमा |
| वाम स्तन | – | पृथ्वीधर |
| वाम बाहु | – | यक्ष्मा, रोग, नाग, मुख्य, भल्लाट |
| दक्षिण बाहु | – | सत्य, ष, नभ, वायु, पूषा |
| दोनों हथेलियाँ | – | गणेश (सावित्र), सविता, रूद्र, शक्तिधर। |
| हृदय | – | ब्रह्मा |
| दक्षिणपार्श्व | – | वितथ और ओक:क्षत |
| वाम पार्श्व | – | शोष और असुर |
| उदर | – | मित्र एवं विवस्वान् |
| लिंगमध्य | – | इंद्र एवं जय |
| दक्षिण तथा वाम उरू | – | यम तथा वरुण |

1. अ० पृ० सूत्र 53
2. ईशानशिवगुरूदेवपद्धति 3/26
3. शि० र० 7/4-29
4. स० सू० भ० नि० 17/1-10

| | | |
|---|---|---|
| दक्षिण जंघा | - | मृग, गन्धर्व और भृङ्ग |
| वाम जंघा | - | द्वास्थ, सुग्रीव तथा पुष्प |
| चरण द्वय | - | पितृगण। |

## विभिन्न ग्रन्थों के अनुसार वास्तुपुरुष की परिकल्पना

वास्तुपुरुष की परिकल्पना पुरनिवेश एवं भवन निवेश की प्रथम प्रक्रिया है। इसमें निवेश्य भूमि को विभिन्न वर्गो में विभाजित किया जाता है। इनकी विविध संज्ञाएँ हैं और इनकी संज्ञाओं का आधार उन वर्गों की संख्या है, जिसमें वह निवेश्य स्थल विभाजित किया जाता है। प्रत्येक विभाजित वर्ग की संज्ञा पद होती है और उसका एक अधिष्ठातृ देव प्रकल्पित होता है। इसमें बहुत से देव एक से अधिक पदों के अधिकारी होते हैं। इनमें विभाजित वर्गो को ही आधार मानकर वास्तुकार्य प्रारम्भ किया जाता है।

प्राचीन भारतीय परम्परा में वास्तुपुरुष की परिकल्पना वैदिक एवं दार्शनिक आधार पर की गई है अतः वास्तुपुरुष की परिकल्पना में कला का दर्शन के साथ समन्वय दृष्टिगोचर होता है। कलात्मक दृष्टि से वास्तुपद विन्यास रूप से वास्तु पद विन्यास की प्रक्रिया में भवन योजना बनाने से पूर्व निर्धारित क्षेत्र में वास्तुपुरुष की स्थापना की जाती है। वास्तुपुरुष की परिकल्पना सम्पूर्ण निर्धारित भू-भाग पर की जाती है। निर्धारित भू-क्षेत्र की दिशाएँ एवं विदिशाएँ निर्धारित करने के उपरान्त ही इस वास्तुपुरुष का चित्रण किया जाता है। जिसका सिर ईशान में पाँव नैऋत्य में तथा दोनों हाथ आग्नेय एवं वायव्य में स्थापित होते हैं। यह परिकल्पना औंधे मुँह लेटी हुई स्थिति में की जाती है। इसके साथ ही सम्पूर्ण निर्धारित भू-क्षेत्र का वर्गों में विभाजन किया जाता है। प्रत्येक वर्ग को वास्तु पद संज्ञा से व्यवहृत किया जाता है ये वर्ग वास्तु के अनुरूप संख्या में 64, 81 अथवा 100 इत्यादि हो सकते हैं।[1] प्रत्येक वर्ग का एक-एक अधिकारी देवता निश्चित होता है। सभी वर्गों के अधिकारी देवों को मिलाकर वास्तु देवता के परिकर की कल्पना की जाती है। किस वर्ग में कौन सा कार्य अपेक्षित है अथवा नही है इसका निर्देश इसके पश्चात् ही किया जाता है। वास्तु पुरुष की परिकल्पना के सन्दर्भ में वास्तु पदों की महत्ता का उल्लेख करते हुए डॉ० द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल लिखते हैं कि "वास्तु पद विन्यास में पुरुष कल्पना अनिवार्य रचना है, अतः जब पुरुष की कल्पना है तो पुरुषाङ्गों की कल्पना स्वभाविक ही आ

1. अपराजितपृच्छा 18/203

जाती है, जिस प्रकार मानव शरीर के विभिन्न अवयवों में मूर्धा, शीर्ष, मुख, हृद, कटि, जानु सिरा, अनुसिरा, केश, नाड़ी आदि-आदि होते हैं ठीक उसी प्रकार वास्तुपुरुष कल्पना में भी इनकी उद्भावना की जाती है। अत: किस अवयव पर कौन सा निवेश विहित है और किस अवयव पर अविहित है (यथा मर्म आदि पर कोई निवेश उचित नहीं है, अत: वह त्याज्य है। अत एव वह स्थान खुला रखा जाता है।) कौन सा गृह भाग किस देव विशेष के पद पर निवेश योग्य है यह ज्ञान वास्तुपुरुष की परिकल्पना के बोध से ही सम्पन्न होता है।[1]

वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में वास्तुपुरुष कल्पना में वास्तुपदों का उल्लेख किया गया है। वास्तुपदों का विभाजन निम्नवत् वर्गीकृत किया जा सकता है।[2]

1. एकाशीतिपद वास्तु (81)
2. शतपद वास्तु (100)
3. चतु:षष्टिपद वास्तु (64)
4. षोडश पद वास्तु (16)
5. सहस्रपद वास्तु (1000)
6. चतुषष्टिवृत्त वास्तु (64)
7. शतपदवृत्त वास्तु (100)
8. त्र्यश्रपद वास्तु

सूत्रधार मण्डन के अनुसार क्षेत्र की आकृति के अनुसार वास्तुपुरुष की पूजा करनी चाहिए। साधारणतया 64 तथा 81 पद के वास्तु की आकृति की पूजा तो आवश्यक मानी गयी है। उनके अनुसार ग्राम-नगर स्थापना के अवसर पर 64 पदवास्तु, गृह के लिए 81 पद-वास्तु, जीर्णोद्धार के प्रसङ्ग में 49 पदवास्तु, मन्दिर मण्डप के लिए 100 पदवास्तु तथा कुएँ एवं तालाब तथा उद्यान के लिए 196 पदवास्तु का पूजन करना चाहिए।[3]

विभिन्न वास्तुपदों का संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत है-

**एकाशीति पदवास्तु**—निवेश योग्य आयताकार एवं वर्गाकार भू-क्षेत्र को नौ-नौ

---

1. स० सू० भ० नि०, पृ० 33
2. स० सू० भ० नि०, अ० 14, 15
3. रा० व० म० 2/3-4

पदों में विभक्त कर सम्पूर्ण भू-भाग को 81 पदों में विभाजित करना ही एकाशीति पद वास्तु कहलाता है। इस विभाजन के मध्य के नौ पदों में ब्रह्मा की प्रतिष्ठा की जाती है। उसके बाद पूर्व दिशा में छः पदों में अर्यमा का आग्नेय के दो-दो पदों में सवितृ और सावित्र नामक दो देवताओं का, दक्षिण के छः पदों में विवस्वान् का, नैऋत्य के दो-दो पदों में जय एवं इन्द्र, पश्चिम के छः पदों में शेषनाग का तथा ईशान के दो-दो पदों में आप एवं वत्स नामक दो देवताओं का निवेश किया जाता है।[1]

## एकाशीतिपद वास्तु

९ × ९ = ८१

वा. उ. ई.

रोग | नाग | मुख्य | नाग | नाग | नाग | अदिति | दिति | अग्नि

पापयक्ष्मा | रुद्र | पृथ्वीधर | आप वत्स | पर्जन्य

शोष | राजयक्ष्मा | आप | जयन्त

प. असुर | वरुण | मित्र | पुष्पदन्त | ब्रह्मा | अर्यमा | इन्द्र | रवि | सत्य पू.

सुग्रीव | जय | सवितृ | भृश

दौवारिक | इन्द्र | विवस्वान् | सावित्र | नभ

पितृगण | मृग | भृङ्गराज | गन्धर्व | यम | गृहक्षत | वितथ | पूषा | अनिल

नै. द. आ.

**देवता संख्या**

नवपदिक – १
षट्पदिक – ४
द्विपदिक – ८
एकपदिक – ३२
४५

**पद संख्या**

१×९ = ९
४×६ = २४
८×२ = १६
३२×१ = ३२
८१

1. स० सू० भ० नि०, पृ० 76

इस प्रकार वास्तुपदों में देवों की स्थापना करके उपर्युक्त वास्तु पदों से बाहर प्रदक्षिणा क्रम में पूर्व से लेकर उत्तर तक 32 देवताओं (अग्नि, पर्जन्य, जयन्त, इन्द्र, सूर्य, सत्य, भृश, अन्तरिक्ष, अनिल, पूषन्, वितथ, गृहक्षत, यम, गन्धर्व, भृङ्गराज, मृग, पितृगण, दौवारिक, सुग्रीव, पुष्पदन्त, जलेश्वर, असुर, शोष, पापयक्ष्मा, रोग, नाग, मुख्य, भल्लाट, सोम, चरक (भुंजग), अदिति तथा दिति (दैत्यमाता) की स्थापना की जाती है। इसी प्रकार 8 द्विपदों में (जयन्त, भृश, वितथ, भृङ्ग, सुग्रीव शोष, मुख्य एवं अदिति) की स्थापना की जाती है।[1] तुदपरान्त जिस कार्य स्थान का जो अधिकारी देवता है। उस स्थान पर वैसे ही गृहादि का निवेश कार्य सम्पन्न किया जाता है।

**शतपदवास्तु** – निवेश योग्य आयताकार अथवा वर्गाकार भू-क्षेत्र को दश-दश भागों में विभक्त कर सम्पूर्ण भू-क्षेत्र को 100 वास्तु पदों में विभाजित करना ही शत-पद वास्तु कहलाता है। इस विभाजन में मध्य के 16 पदों में ब्रह्मा तथा उनके बाहर चारों तरफ क्रमशः 8-8 पदों में अर्यमा, विवस्वान्, मित्र, पृथ्वीधर की पूर्वादि दिशा क्रम से उत्तर पर्यन्त एक-एक पद में स्थापना की जाती हैं। अग्नि से लेकर दिति पर्यन्त 8 देवताओं की क्रम से 1-1/2-1-1/2 पदों में स्थापना की जाती है। इसी प्रकार पर्जन्य से लेकर अदिति पर्यन्त सभी देवताओं को प्रदक्षिणा क्रम में स्थापित किया जाता है।[2] तदुपरान्त ही जिस कार्यस्थान का जो अधिकारी देवता हो उससे तत्सम्बन्धित भवनादि के निवेश का कार्य सम्पन्न किया जाता है।

1. मु० पु० 252/56-60
2. स० सू० भ० नि०, अ० 20

शतपद वास्तुपुरुषमण्डल

१० X १० = १००



| देवता संख्या | | पद संख्या |
|---|---|---|
| षोडशपदिक | – १ | १६ × १ = १६ |
| अष्टपदिक | – ४ | ८ × ४ = ३२ |
| द्विपदिक | – ८ | २ × ८ = १६ |
| सार्धपदिक | – ३२ | १½ × ८ = १२ |
| एकपदिक | – २४ | १ × २४ = २४ |
| | ४५ | १०० |

**चतुष्षष्टिपद वास्तु** – निवेश योग्य निर्धारित आयताकार एवं वर्गाकार भू-क्षेत्र को 8-8 पदों में विभक्त कर सम्पूर्ण भू-क्षेत्र को 64 पदों में विभक्त करना ही चतुष्षष्टि पद वास्तु है। इसमें मध्य के 4 पदों में ब्रह्मा तथा उनके चारों दिशाओं में क्रमशः दो-दो पदों में अर्यमा विवस्वान्, मित्र, पृथ्वीधर की स्थापना की जाती है। तत्पश्चात् कोणों के क्रम से आधे-आधे पदों में 8 देवताओं की स्थापना की जाती है।[1] पर्जन्य से लेकर अदिति 8 देवताओं (पर्जन्य, भृश, पूषन्, भृङ्ग, दौवारिक, शोष, नाग एवं अदिति) को क्रम से 1-1/2-1-1/2 पदों में स्थापित किया जाता है। बाहर की ओर प्रदक्षिणा क्रम में जयन्त से लेकर चरक तक 16 देवताओं की दो-दो पदों

1. स० सू० भ० नि०, अ० 18

में स्थापना की जाती है। इसके पश्चात् ही जिस कार्य स्थान का जो अधिकारी देवता है उसके स्थान पर तत्सम्बन्धी वास्तु निवेश का कार्य सम्पन्न करना चाहिए।

चतुष्षष्टिपद वास्तुपुरुषमण्डल

८ X ८ = ६४

उ

रोग, पापयक्ष्मा, नाग, मुख्य, भल्लाट, सोम, चरक, अदिति, दिति, अग्नि

शोष, पर्जन्य

असुर, रुद्र, राजयक्ष्मा, पृथ्वीधर, आप, आपवत्स, जयन्त

प. वरुण, पुष्पदंत, मित्र, ब्रह्मा २ X२ = ४, अर्यमा, इन्द्र, रवि पू.

सुग्रीव, इन्द्र, जय, विवस्वान्, सवितृ, सवित्र, सत्य

दौवारिक, भृश

पितृ, मृग, भृंगराज, गंधर्व, यम, गृहक्षत, वितथ, पूषा, नैऋति

द.

| देवता संख्या | | पद संख्या |
|---|---|---|
| चतुष्पदिक | — १ | १ × ४ = ४ |
| द्विपदिक | — २० | २० × २ = ४० |
| सार्धपदिक | — ८ | ८ × १½ = १२ |
| अर्धपदिक | — १६ | १६ × ½ = ८ |
| | ४५ | ६४ |

**षोडशपद-वास्तु** – निवेश योग्य आयताकार एवं वर्गाकार भू-क्षेत्र को चार-चार भागों में विभक्त कर सम्पूर्ण भू-क्षेत्र को 16 पदों में विभाजित करना ही षोडशपद वास्तु है।[1] मध्य के चार पदों की स्थापना की जाती है। तदुपरान्त आधे-आधे पद में अर्यमा, विवस्वान्, मित्र एवं शेषनाग को पूर्वादि क्रम से स्थापित किया जाता है। सवितृ से लेकर आपवत्स पर्यन्त देवताओं को आधे-आधे पदों में स्थापित किया जाता है। इसके बाद क्रमश: ईशान क्रम से 8 देवताओं की स्थापना की जाती है। पर्जन्य से अदिति पर्यन्त देवता चतुर्थांश पदों में स्थापित किए जाते हैं। बाहर की ओर

1. वा० त० दी०, पृ० 16

प्रदक्षिणा क्रम से आधे-आधे वास्तु पदों में जयन्त से लेकर चरक पर्यन्त 16 देवताओं की स्थापना की जाती है। इसके पश्चात् जिस कार्य का जो अधिकारी देवता हो उससे सम्बन्धित वास्तु निवेश का कार्य सम्पन्न करना चाहिए।

षोडशपदवास्तुपुरुषमण्डल

| देवता संख्या | | पद संख्या |
|---|---|---|
| एकपदिक | — १ | १ × १ = १ |
| अर्धपदिक | —२० | २० × ½ = १० |
| तूर्यपदिक | — १६ | १६ × ¼ = ४ |
| अष्टांशपदिक | — ८ | ८ × १/८ = १ |
| | ४५ | १६ |

**सहस्त्रपद वास्तु** – निवेश योग्य आयताकार एवं वर्गाकार भू-क्षेत्र के तैंतीस-तैंतीस भाग करने पर ही सहस्त्रपद वास्तु की कल्पना की जा सकती है।[1] इसमें चर की आदि के लिए अन्त की ढाई पंक्तियाँ तथा बीच में उसके बाद अर्धपदिका वीथिका छोड़नी चाहिए। पुनः उसके पश्चात् सत्ताईस-सत्ताईस भागों में वास्तु का विभाजन करना चाहिए। 29 पदों से युक्त पदों का शतसप्तक अर्थात् 729 होता है। गर्भ में इक्यासी

1. स० सू०, अ० 15/8-12

पदों का स्थान ब्रह्मा के लिए होता है। चाप प्रभृति आठ जो अलग-अलग देवता हैं वे अठारह पद वाले अर्यमा आदि चारों 54 पद वाले होते हैं। अदिति पर्यन्त ईशादि के जो बाहर के देवता हैं, उनके 99 पद के भाग होते हैं। यही सहस्रपद वास्तु निवेश में विहित तथ्य होते हैं।

सहस्रपद वास्तुपुरुषमण्डल

३३ X ३३ = १०८९

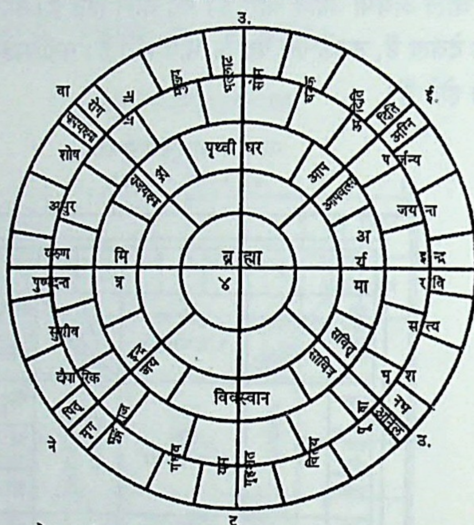
वा
उ.
ई.
रोग
नाग
मुख्य
भल्लाट
सोम
चरक
अदिति
दिति
अग्नि
पाप यक्ष्मा
शोष
रुद्र
राजयक्ष्मा
पृथ्वी धर
९ X ६ = ५४
आप
आपवत्स
पर्जन्य
जयन्त
असुर
वरुण
पुष्पदन्त
मित्र
४ X ६ = ५४
ब्रह्मा
९ X ९ = ८१
अर्यमा
४ X ६ = ५४
इन्द्र
रवि
सत्य
सुग्रीव
दौवारिक
इन्द्र
जय
वि वस्वान
९ X ६ = ५४
सवितृ
सावित्र
भृश
नभ
पितृ
मृग
भृङ्गराज
गंर्धव
यम
गृहक्षत
वितथ
पूषा
अनिल
1½
२७ × २७ = ७२९
नै
द.
उ.

| देवता संख्या | | पद संख्या |
|---|---|---|
| एकाशितिपदिक | – १ | १ × ८१ = ८१ |
| चतुष्पन्नाशपदिक | – ४ | ४ × ८१ = २१६ |
| अष्टादशपदिक | – ८ | ८ × १८ = १४४ |
| नवपदिक | – ३२ | ३२ × ९ = २८८ |
| | | ७२९ (२७×२७) |

**चतुष्षष्टिवृत्त वास्तु** - निवेश योग्य वृत्ताकार भू-क्षेत्र को चार परिधियों में विभक्त करने पर ही चतुष्षष्टि पद वास्तु का स्वरूप बनता है। इसमें कुल मिलाकर आठ परिधियाँ होती हैं क्योंकि ब्रह्म स्थान के बाहर चार वलय चाहिए। वृत्ताकार भू-क्षेत्र में सर्वप्रथम आठ परिधियाँ बनाकर बाहरी वृत्त वलय को 28 भागों में तथा भीतरी वलयों में क्रमशः आठ-आठ वलयों को छोड़कर पदों का विन्यास करना चाहिए। इस विभाजन के उपरान्त मध्य के चार पदों में ब्रह्मा का विन्यास तथा जिस क्रम में आयताकार भू-क्षेत्र में देवताओं की स्थापना की जाती है। उसी क्रम से स्थापना करके वास्तु का विन्यास करना चाहिए।

चतुष्षष्टिवृत्तवास्तुपुरुषमण्डल

४+१२+२०+२८=६४

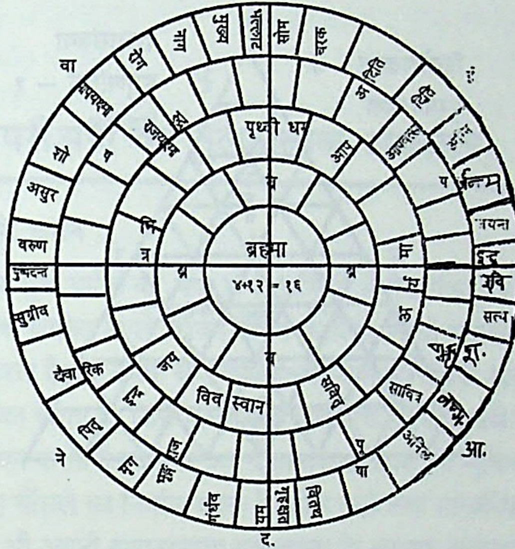



| देवता संख्या | | पद संख्या |
|---|---|---|
| एकाशीतिपदिक | – १ | १ × ४ = ४ |
| चतुष्पन्नाशपदिक | – २० | २० ×२ = ४० |
| अष्टादशपदिक | – ८ | ८ × १½ = १२ |
| नवपदिक | – १६ | १६ × ½ = ८ |
| | ४५ | ६४ |

**शतपदवृत्त वास्तु** - निवेश योग्य वृत्ताकार भू-क्षेत्र को पाँच परिधियों में विभक्त करना चाहिए। इस वृत्त वास्तु का बाहरी वलय छत्तीस पदों का होगा तथा मध्य का वास्तु पद दो भागों का शेष विभाजन चौंसठ पद वास्तु के सदृश ही होगा। इन दोनों के देवताओं के पदों का संक्षेप-चतुरश्र वास्तु पदों के समान होता है। इसके पश्चात् बुद्धिमान् स्थपति को वास्तु योजना का विन्यास करना चाहिए।

शतपदवृत्त वास्तुपुरुषमण्डल

४+१२+२०+२८+३६=१००

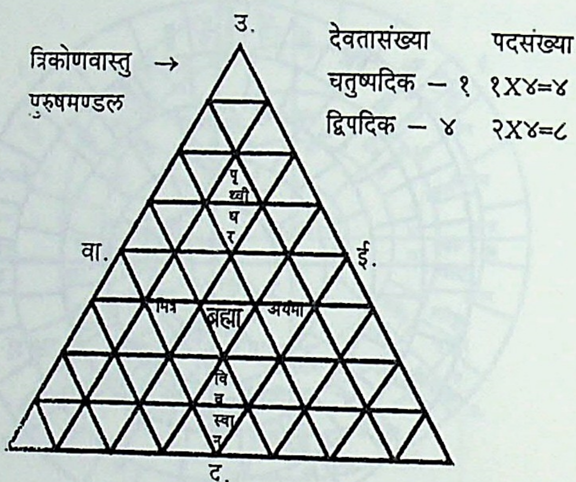



| देवता संख्या | | पद संख्या |
|---|---|---|
| षोडषपदिक | — १ | १ × १६ = १६ |
| अष्टपदिक | — ४ | ४ ×८ = ३२ |
| द्विपदिक | — ८ | ८ × २ = १६ |
| अध्यर्धपदिक | — १६ | ८ × 1½ =१२ |
| एकपदिक | —२४ | २१ × १ = २४ |
| | ४५ | १०० |

**त्र्यश्रपद वास्तु** - निवेश योग्य त्रिभुजाकार भू-क्षेत्र को त्रिकोण, षट्कोण, अष्टकोण, षोडशकोण आदि के क्रम से विभाजित कर वास्तु पदों का विन्यास किया जा सकता है तथा उसमें मध्य के तीन पदों में ब्रह्मा की स्थापना कर शेष पदों में 3/4 पद के क्रम से देवताओं की स्थापना कर निवेश का कार्य सम्पन्न किया जाना चाहिए। कुछ विद्वानों के अनुसार अर्द्धचन्द्राकार वास्तु में भी वृत्त वास्तु के समान ही पदों का विभाजन किया जा सकता है।[1]

1. स० सू०, अ० 15/20

## त्र्यश्रपद वास्तुपुरुषमण्डल




• • •

# 3
# भूमि परीक्षण का तुलनात्मक अध्ययन

## गृह निर्माण हेतु भूमि चयन

आत्म–रक्षा और सुख प्राप्ति का भाव सभी प्राणियों में नैसर्गिक रूप से पाया जाता है। प्राय: प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन यापन के लिए किसी सुरक्षित आश्रय स्थान का अन्वेषण करता है तथा इसके बाद वह आश्रय स्थान को अपनी आकांक्षाओं के आधार पर सुसज्जित करता है। जिस प्रकार कोई खग अर्थात् पक्षी सबसे पहले तो वह किसी पेड़ का चयन करता है तदनन्तर अपनी आवश्यकताओं एवं सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए वह घोंसले का निर्माण करता है। ठीक उसी तरह सांसारिक व्यक्ति होने के कारण मनुष्य भी अपनी आवश्यकता एवं क्षमता के अनुरूप सर्वप्रथम अपने भवन निर्माण के लिए भूमि का परीक्षण करता है। इसके लिए वह वास्तुशास्त्रविदों, ज्योतिषियों अथवा किसी इन्जीनियर की सलाह भी लेता है।

प्राय: देखा जाता है कि मनुष्य वास्तुशास्त्रीय ज्ञान के अभाव में भवन निर्माण के लिए भूमि का चयन एवं वरण कर लेता हैं। उन्हें शुभ एवं अशुभ भूमि के लक्षणों का ज्ञान न होने से अनभिज्ञता में ऐसी भूमि का चयन एवं वरण कर निर्माण कार्य आरम्भ कर लिए जाते हैं लेकिन अशुभ भूमि पर निर्मित भवन या तो अर्धनिर्मित स्थिति में ही रह जाते हैं अथवा उनके निर्माण कार्य में आर्थिक तथा अन्य प्रकार की बाधाएँ उपस्थित हो जाती है अत: मनुष्य को चाहिए कि वह किसी भी प्रकार का भवन निर्माण करने से पूर्व भूमि का परीक्षण अत्यन्त सावधानी तथा शास्त्र सम्मत आधार पर करे जिससे भवन का निर्माण बिना किसी विघ्नबाधा के पूर्ण हो सके तथा निर्माण कर्त्ता को मानसिक शांति प्राप्त हो सके।

प्राचीन भारतीय वास्तुशास्त्र में भवन निर्माण हेतु भूमि चयन की प्रक्रिया विस्तृत रूप में वर्णित मिलती है। वास्तुशास्त्र में भवन निर्माण हेतु भूमि के लक्षण विभिन्न वर्णों के लिए उनका शुभ अशुभ फल, भूमि परीक्षण प्रकार का साङ्गोपाङ्ग वर्णन मिलता है। वास्तुशास्त्र के अनुसार इन नियमों के अनुसार चयनित भूमि पर भवन

निर्माण उसमें निवास करने वाले के लिए मानसिक सुख एवं समृद्धि प्रदान करने वाला होता है।

वास्तुशास्त्र में भूमि के लक्षण बताते हुए मिट्टी के रंग के आधार पर भूमि को चार वर्णों में विभाजित करने का भी उल्लेख मिलता है। जिसमें सफेद वर्ण की मिट्टी से युक्त भूमि को ब्राह्मणी, लाल वर्ण की मिट्टी से युक्त भूमि को क्षत्रिया, हरित वर्ण की मिट्टी से युक्त भूमि को वैश्या तथा काले वर्ण की मिट्टी वाली भूमि को शूद्रा कहा गया है।[1] इसी प्रकार भूमि पर उत्पन्न होने वाले घास आदि के आधार पर भूमि के वर्णों का विभाजन मिलता है जिसमें कुश युक्त भूमि को ब्राह्मणी, मुञ्ज (शर) युक्त भूमि को क्षत्रिया, कुश और काश मिश्रित भूमि को वैश्या एवं सब प्रकार के तृणों से युक्त भूमि को शूद्रा वर्ण का बताया गया है।[2]

वास्तुशास्त्र में गन्ध एवं रस के आधार पर भी भूमि के वर्णों को बताया गया है जिसमें सुगन्ध एवं मधु रस से युक्त भूमि को ब्राह्मणी, रक्त की गन्ध एवं कषाय रस से युक्त भूमि को क्षत्रिया, मधु (सस्य) गन्ध तथा अम्ल रस से युक्त भूमि को वैश्या और मद्य गन्ध युक्त तथा तिक्त रस से सम्पन्न भूमि को शूद्रा कहा गया है।[3] इन चातुर्वर्ण्य भूमियों पर निवास का फल बताते हुए कहा गया है कि ब्राह्मणी भूमि सुखद, क्षत्रिया भूमि राज्य देने वाली, वैश्या भूमि धनधान्य देने वाली तथा शूद्रा भूमि निवास के लिए त्याज्य मानी गई है।[4] भारतवर्ष में प्राचीनकाल से ही समाज में चार वर्णों का विधान किया गया है तथा वास्तुशास्त्र भी इससे अछूता नहीं है। वास्तुशास्त्र में भिन्न-भिन्न लक्षणों वाली भूमियों पर निवास करने का विधान है। वास्तुशास्त्र के महनीय ग्रन्थ 'समराङ्गणसूत्रधार' सहित अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में ब्राह्मणादि वर्णों के

---

1. शुक्ला मृत्सना च या भूमिर्ब्राह्मणी सा प्रकीर्तिता।।
   क्षत्रिया रक्तमृत्सना च हरिद्वैश्या उदाहृता।
   कृष्णा भूमिर्भवेच्छूद्रा चतुर्धा परीकीर्तिता।। बृ० वा० 1/27-28
2. ब्राह्मणी भूः कुशोपेता क्षत्रिया स्याच्छराकुला।
   कुशकाशाकुला वैशः या शूद्रा सर्वतृणाकुला।। वही, 1/29
3. सुगन्धा ब्राह्मणी भूमि रक्तगन्धा तु क्षत्रिया।
   मधुगंधा भवेद्वैश्या मद्यगंधा च शूद्रिका।।
   मधुरा ब्राह्मणी भूमि कषाया क्षत्रिया मता।
   अक्ला वैश्या भवेद्भूमिस्तिक्ता शूद्रा प्रकीर्तिता।। वि० प्र० 1/25-26
4. ब्राह्मणी सर्वसुखदा क्षत्रिया राज्यदा भवेत्।
   धनधान्यकरी वैश्या शूद्रा तु निन्दिता स्मृता।। बृ० वा० 32

लिए क्रमशः सफेद, लाल, पीली एवं काली भूमि निवास के लिए हितकर कही गई है।[1] इसी प्रकार भूमि की भिन्न-भिन्न गन्ध एवं रस के आधार पर भी चातुर्वर्ण्य के लिए भूमि की शुभता अशुभता का निर्देश किया गया है। घृत, रक्त, अन्न एवं मद्य गन्ध वाली भूमि क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वर्णों के लिए ग्राह्य कही गई है[2] तथा ब्राह्मणों के लिए मधुरस्वाद या रस वाली भूमि, क्षत्रियों के लिए कटु रस वाली, वैश्यों के लिए तिक्त रस वाली एवं शूद्रों के लिए कषाय रस युक्त भूमि पर निवास की शुभता का निर्देश है।[3]

वृहत्संहिता में भूमि पर उत्पन्न होने वाले घास के आधार पर भी उसकी विभिन्न वर्णों के लिए शुभ एवं अशुभ होने का कथन किया गया है इसमें ब्राह्मणादि वर्णों के लिए क्रमशः कुशों से युक्त, मुञ्जों से युक्त, दूर्वा से युक्त एवं कासों से युक्त भूमि प्रशस्त कही गई है।[4] विश्वकर्मप्रकाश नामक ग्रन्थ में इससे कुछ भिन्न मत प्राप्त

---

1. क. सिता रक्ता च पीता च कृष्णा चैव क्रमान्मही।
   विप्रादीनां हि वर्णानां सर्वेषामथवा हिता।। स० सू० भ० नि० 8/48
   ख. अथातः संप्रवक्ष्यामि लोकानां हितकाम्यया।
   श्वेता रक्ता तथा पीता कृष्णा वर्णानुपूर्व्यतः।। वि० प्र० 1/24
   ग. श्वेता शस्ता द्विजेन्द्राणां रक्ता भूमिर्महीभुजाम्।
   विशां पीता च शूद्राणां कृष्णान्येषां विमिश्रिता।। बृ० वा० 1/33
   घ. श्वेता रक्ता तथा पीता कृष्णा चैवानुपूर्वशः।
   विप्रदिः शस्यते भूमिरतः कार्यपरीक्षणम्।। म० पु० 253/11-12
   ङ. सितरक्त पीतकृष्णा विप्रादीनां प्रशस्यते भूमि। बृ० सं० 53/96
   च. वास्तुलक्ष्य प्रवक्ष्यामि विप्रादीनां च भूरिह।
   श्वेता रक्ता तथा पीता कृष्णा, चैव यथा क्रमम्।। अ० पु० 247/1
2. क. गन्धश्च भवति यस्यां घृतरूधिरान्नाद्यमद्यसमः। वि० वि० प्र० 115-116
   ख. ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च शुभावहः।
   घृतासृगन्नमद्यानां गन्धश्च क्रमशो भवेत्।। बृ० वा० 1/34
   ग. घृतासृगन्नमद्यानां गन्धाश्च क्रमतः शुभाः।
   विप्रक्षत्रियविट्शूद्र जातीनां वास्तुभूमिषु।। वा० र० पृ० 14
   घ. घृतरक्तान्नमद्यानां गधाढ्या रसतश्च भूः।। अ० पु० 247/1
3. क. ह्यानुवर्णं वृदिकरी मधुरकषायाम्लकटुका च। बृ० स० 53/97
   ख. विप्राणां मधुरस्वाद कटुका क्षत्रियस्य तु।
   तिक्ता कषाया च तथा वैश्यशूद्रेषु शस्यते।। म० पु० 253/12-13
4. क. कृशयुक्ता शरबहुला दूर्वाकाशावृता क्रमेण मही। बृ० सं० 53/97
   ख. कुशै शरैस्तथा काशैदूर्वाभिर्या च संश्रिता। अ० पु० 247/3

होता है जिसमें कहा गया है कि जिस भूमि में कुशा हो वह ब्राह्मणों को तथा जिसमें दूर्वा हो वह क्षत्रियों को श्रेष्ठ है। जिस भूमि में फल पुष्प लता हो वह वैश्यों को और जिसमें तृण हो वह भूमि शूद्रों के लिए श्रेष्ठ है।[1] वास्तुशास्त्र के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ समराङ्गणसूत्रधार के भूमि परीक्षा नामक अध्याय में भवन निर्माण हेतु प्रशस्त भूमियों के भेद बताते हुए जांगल, अनूप एवं साधारण भेदों का कथन किया गया है।[2] इन त्रिविध देशों का लक्षण इस प्रकार से वर्णित है। जिस देश में पानी दूर हो, रेत की बहुतायत हो, छोटे-छोटे कांटेदार पेड़ हो, वायु खुश्क, गर्म तथा तेज हो एवं काली मिट्टी से युक्त भूमि को जांगल देश कहा गया है।[3] इसके विपरीत जिस देश में पानी पास उपलब्ध हो, स्निग्ध, निम्न एवं शीतल हो मछलियों, मांस, नदियों, सुन्दर चिकने एवं ऊँचे पेड़ों से अधिक मात्रा में युक्त भूमि अनूप संज्ञक है।[4] उपर्युक्त दोनों देशों के लक्षणों से युक्त जो देश न अधिक गर्म एवं न अधिक ठण्डा हो उसे वास्तुशास्त्रियों ने साधारण देश कहा है।[5] इन त्रिविध देशों में महाराज भोज ने भिन्न-भिन्न लक्षणों से युक्त सोलह प्रकार की भूमियों का उल्लेख किया है।[6] इन सोलह प्रकार की भूमियों के लक्षण सहित नाम समराङ्गणसूत्रधार में विस्तार से वर्णित है। सुन्दर समृद्ध एवं भद्रजनों द्वारा निवसित तथा बलिश राजा के द्वारा शासन योग्य भूमि को बालिशस्वामिनी भूमि कहा गया है।[7] जहाँ पर सुन्दर कान्ति युक्त

---

ग. भूमि कुशाद्या शरसंयुता च, दूर्वाचिता काशयुता क्रमेण।
माधुर्ययुक्ता च कापायकाम्ला, कटवी प्रशस्ता द्विजवर्गतो वा।। गृ० वा० प्र० 14

1. कुशकाशयुता ब्राह्मी दूर्वा नृपति वर्गगा।
फल पुष्पलता वैश्या शूद्राणां तृणसंयुता।। वि० प्र० 1/34-35
2. देशः स्याज्जांगलानूपसाधारणतया त्रिधा।
त्रिविधस्याप्यथैतस्य यथावल्लक्ष्म कथ्यते।। /2
3. दूराम्बुरिरिणप्रायो ह्रस्वकण्टककिपादपः।
रूक्षोष्ण चण्डपवनः कृष्णमृत तेषु जाङ्गलः।। स० सू० भ० नि० 10/3
4. निम्नो भूरिजलः स्निग्धो वहुमत्स्यामिशो हिमो।
स्यादनूपः सरित्प्रायः स्निग्धोच्छ्रितबहुद्रुमः।। स० सू० भ० नि० 10/4
5. यः पुनर्नातिशीतोष्णः स्याद् देशद्वयलक्षणः।
स साधारण इत्युक्तो देशो देषविशारदैः।। स० सू० भ० नि० 10/5
6. जाङ्गलादिषु देशेषु त्रि (पुण्ये?ष्वप्ये) षु स्वलक्षणैः।
युक्ताः षोडश विज्ञेयो प्रविभागतः।। स० सू० भ० नि० 10/6
7. भूभुजा बालिशेनापि शक्यते या प्रशासितुम्।
या च भद्रजना सा स्याद् बालिशस्वामिनी क्षितिः।। स० सू० भ० नि० 10/10

पुरुष अपनी पैदावार का भाग भोगादिक कर अधिकतया देते है ऐसी भूमि योग्या[1] कही गई है। जिस भूमि पर पर्वतों के मध्य अथवा बाहर नदियाँ और नद बहुतायत में पाये जाते हों तथा जिसकी सीमा और क्षेत्रादि विभक्त हो ऐसी भूमि को सीतागोचररक्षिणी[2] कहते हैं। भयावह सरिताओं, पर्वतों, एवं वनों से युक्त तथा मनुष्यों के आवास के अयोग्य भूमि अपाश्रयवती कही गई है।[3] पर्वत, सरिताओं और कुञ्जों से युक्त रमणीय भूमि जिस पर निवास के लिए मनुष्य लालयित रहते है उसे कान्ता भूमि कहते हैं।[4] सोने, चाँदी आदि धातुओं की खानों से युक्त तथा नमक की अधिक पैदावार वाली भूमि खनिमती[5] है। जहाँ के लोग दंड, कोष एवं राजदरबार में आसनादि के लोभ से वशीकृत न किए जा सके और जो स्फीतलोकाश्रया अर्थात् फैली हुई वस्तियों से युक्त हो ऐसी भूमि को आत्मधारिणी कहा गया है।[6] जहाँ की क्रय-विक्रय की वस्तुएँ प्रसिद्ध हो तथा जो वैश्यों से प्रसाधित एवं अलंकृत हो उसको वणिकप्रसाधिता[7] भूमि कहते है। शाक, अश्वकर्ण, खदिर, श्रीपर्णी, स्यन्दन, आसन, वांस, वेत्र, शर आदि वृक्षों से युक्त भूमि को द्रव्यवती[8] कहा गया है। जहाँ पर जनपद सुविभक्त हों, शान्ति युक्त एवं लोग परस्पर मैत्री रखते हों उसे अमित्रघातिनी पृथ्वी कहते हैं।[9] कैदियों से रहित एवं विनीत पुरुषों के द्वारा परिपूरित भूमि को

1. वितरन्त्यधिकं यस्यां भागभोगादिकान् करान्।
न्रा भूरिश्रिय: सात्र भोग्येति क्षितिरूच्यते।। स० सू० भ० नि० 10/11
2. यस्यां नदाश्च नद्यश्च गिरिर्मध्येऽथवा बहि:।
विभक्तक्षेत्रसीमा सा सीतागोचररक्षिणी।। स० सू० भ० नि० 10/12
3. सरिदद्रिवानाद्येषु त्रासाद् यस्यां विशेज्जन:।
जनापश्रययोग्यत्वादपाश्रयवतीति सा।। स० सू० भ० नि० 10/13
4. वनोपवनवत्यद्रिसरित्कुञ्जमनोहरा।
देहिनो रमयत्युर्वी या सा कांतेति कीर्तिता।। स० सू० भ० नि० 10/14
5. यस्या सदैव जायते कल धौतादिधातव:।
लवणानि च भूयांसि प्राहु: खनिमतीति ताम्।। स० सू० भ० नि० 10/15
6. यात्यन्तं नानुगृह्येत् दण्डकोशासनादिभि:।
स्फीतलोकश्रया या च सा स्याद्भूरात्मधारिणी।। स० सू० भ० नि० 10/16
7. प्रसिद्धंत्यसकृत यत्र पण्योपक्रयविक्रया:।
वणिक् प्रसाधितेत्युक्ता सा भूर्वणिगलंकृता।। स० सू० भ० नि० 10/17
8. शाकाश्वकर्णखदिर श्रीपर्णीस्यन्दनासनै:।
वेनुवेत्रशराद्यैश्च युक्ता द्रव्यवतीति भू:।। स० सू० भ० नि० 10/18
9. यस्यां जनपदा: साधु: विभक्तास्त्यक्तविक्रमा।
योगं यांति च मित्राणि स्याद् भू सामित्रधातिनी।। स० सू० भ० नि० 10/19

आश्रेणी पुरुषा कहते हैं।[1] जिस भूमि पर सामंत अर्थात् मांडलिक राजा मंत्र एवं उत्साहादि से विमुख होकर रहते हैं उस भूमि को शक्यसामंता कहा गया है।[2] जिस स्थान पर कृषि की संचाई के लिए नदियों के जल का प्रयोग होता है वर्षा की प्रतिक्षा नहीं की जाती है उस स्थान को देवमातृका[3] भूमि कहते हैं। जिस भूमि पर बोये गये बीज विना प्रयास के ही अधिक मात्रा में पैदा होते हैं। जहाँ पर जुते हुए खेत कभी भी बाढ़ आदि प्राकृतिक आपदाओं से नष्ट नहीं होते ऐसी भूमि को धान्या या धान्यशालिनी[4] कहा गया है। पर्वतों में हाथियों के वनों से युक्त एवं राजा की सैन्यवर्धक भूमि हस्तिवनोपेता कहलाती है।[5] जो भूमि विषम पहाड़ों एवं नदियों से रक्षित होने से शत्रुओं द्वारा काबू न की जा सके ऐसी भूमि को सुरक्षा नाम से अभिहित किया गया है।[6]

विश्वकर्म वास्तुशास्त्र[7] में भूमि में बीजाङ्कुरों की उत्पत्ति के आधार पर उत्तम, मध्यम तथा अधम त्रिविध भूमि का उल्लेख प्राप्त होता है। जिस भूमि पर तीन रात्रि में ही बीज का अङ्कुर निकल जाता है, उसे उत्तम भूमि कहा गया है। जहाँ पाँच रात्रि में भी बीजांकुर न फूटे उसे अधम भूमि कहा गया है तथा जहाँ पाँच रात्रि में बीज अंकुरित हो उसे मध्यम भूमि कहा गया है। अधम भूमि को सभी कार्यों के लिए

---

1. न क्षुद्रा वन्दिनो यस्यां दुर्गप्रत्यन्तसंश्रया।
   भू साश्रेणी मनुष्येति विनीतैराश्रिता जनै।। स० सू० भ० नि० 10/20
2. मंत्रोत्साहादिवैमुख्यं स यस्यां सामंतभुभुजः।
   भजन्ते सा स्मृता शक्यसामंता भू समंततः।। स० सू० भ० नि० 10/21
3. जीवन्ति क्षेत्रिणो यस्यां नदनद्यादिवारिभिः।
   तां देवमातृकेत्याहुरनपेक्षित वारिदाम्।। स० सू० भ० नि० 10/22
4. निष्पर्द्यतेऽधिकं यस्यां बीजान्युप्तान्ययत्नतः।
   कृष्यनुपहताक्षेत्रा धान्या सा धान्यशालिनी।। स० सू० भ० नि० 10/23
5. पर्यन्तेष्वद्रयो यस्यां या च हस्तिनाश्रिता।
   सा हस्तिवनवत्युर्वी भूभृतः सैन्यवर्धिनी।। स० सू० भ० नि० 10/24
6. दुष्प्रधृष्यैव या नित्यं विषमत्वादरातिभिः।
   विषमाद्रिसारिद्गुप्ता सा सुरक्षेति भूः स्मृता।। स० सू० भ० नि० 10/25
7. आ भूमिरूत्तमा ज्ञेया त्रिरात्राङ्कुरवर्धिनी।
   सा मध्यमा च विज्ञेया पञ्चरात्राङ्कुरप्रदा।।
   मन्दाङ्कुरप्रदा भूमिरधमा चेति गद्यते।
   सा वर्ज्या सर्वेकार्येषु बीजानां क्षयकारिणी।। वि० वा० 5/21-22

त्यागने का निर्देश किया गया है। उत्तम और मध्यम भूमि को प्रशस्त माना गया है। बृहत्संहिता में निवास के लिए प्रशस्त भूमि का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जिस भूमि पर शुभ मांगलिक जयंती, जया, जीवितपुत्रा आदि लताएं तथा याज्ञिक वृक्ष प्रसन्न मुद्रा में दिखाई दे तथा नीची, ऊँची (विषम) मूषकादिबिल, स्फुटितादिदोष रहिता तथा मधुर स्वाद सुगन्ध प्रसन्नोन्मुख भूमि हो एवं कुछ काल बैठने मात्र से मार्ग का श्रमजनित क्लेश दूर हो जाता हो और अतिशय शान्ति व आनन्द की अनुभूति होती हो तो, वहाँ निवास बनाकर रहने से क्यों नहीं शाश्वत सुख-शान्ति की अनुभूति होगी, अपितु अवश्य सुख-शान्ति मिलेगी।[1]

## विविध ग्रन्थों के अनुसार भूमि परीक्षण

वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में भूमि परीक्षणों के अन्य कई आधारों द्वारा भी भूमि की गुणवत्ता का ज्ञान प्राप्त होता है। मत्स्यपुराण में सर्वप्रथम भूमि की परीक्षा कर पश्चात् वास्तु की कल्पना का निर्देश किया गया है - "पूर्वं भूमिं परीक्षेत् पश्चाद्वास्तुं प्रकल्पयेत्"।[2]

समराङ्गणसूत्रधार में भूमि परीक्षा की पाँच प्रक्रियाओं का वर्णन किया गया है। प्रथम प्रक्रिया का निर्देश करते हुए कहा गया है कि मनुष्य को चाहिए की वह शुभ दिन पर उपवास रखकर, स्नानादि से पवित्र होकर, सफेद माला एवं शुद्ध वस्त्र धारण कर, विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन एवं वास्तुदेवों की पूजा करवाकर चयनित भूमि के मध्य में गृहस्वामी के हाथ के प्रमाण (एक हाथ लम्बा, एक हाथ चौड़ा तथा एक हाथ गहरा) का गड्ढा खोदना चाहिए और फिर उस गड्ढ़े को उसी मिट्टी से भरे यदि वह मिट्टी गड्ढे के भरने से अधिक बच जाए तो उस भूमि का उत्तम जानना चाहिए यदि मिट्टी पूरी हो तो मध्यम और यदि मिट्टी गड्ढ़ा भरने में कम पड़ जाए तो वह भूमि अधम कहलाती है। अधम भूमि को वास्तुकर्म के लिए निषिद्ध माना गया है।[3]

---

1. शस्तौषधिद्रुमलता मधुरा सुगन्धा
   स्निग्धा समा न सुषिरा च मही नराणाम्।
   अप्यध्वनि श्रमविनोदमुपागतानां
   धत्ते श्रियं किमुत शाश्वतमन्दिरेषु।। बृ० सं० 53/88
2. म० पु० 253/10
3. शुभेऽहनयुपोषितः स्नातः शुचि शुक्लस्रगम्बर।
   स्वस्ति विप्रान वाचयित्वा वास्तुदेवान् समर्च्च च।

समराङ्गणसूत्रधार में वर्णित भूमि परीक्षा की दूसरी प्रक्रिया के अनुसार गड्ढ़े से निकली मिट्टी में यदि मणि, शंख, प्रवाल आदि मिलें तो उस भूमि को अत्यन्त प्रशस्त माना गया है। जिस भूमि को खोदने पर अंशमात्र भी भूसी, बाल, कंकड़, अंगार, भस्म हड्डियाँ न मिलें उस भूमि को भी प्रशस्त माना गया हैं।[1] भूमि परीक्षण की तीसरी प्रक्रिया बताते हुए समराङ्गणसूत्रधार में कहा गया है कि हस्त प्रमाण से खोदे हुए गड्ढे को पानी से भरकर सौ कदम दूर जाकर वापस लौट आयें। वापसी पर यदि गड्ढे में उतना ही पानी रहे अर्थात् गड्ढा भरा हुआ मिले तो उसे भूमि को सार्वकामिकी अर्थात् सब इच्छाओं को पूर्ण करने वाली कहा गया है और यदि पानी कम हो जाए तो उसे मध्यम श्रेणी की भूमि कहते हैं यदि उससे भी कम हो जाए तो उस भूमि को अधम भूमि कहा गया है।[2] भूमि परीक्षा की यह पद्धति अपराजितपृच्छा में इस प्रकार वर्णित है। इसमें हस्तप्रमाण से खुदे हुए गड्ढे में जल भरकर शिल्पी को सौ पद चलने का निर्देश दिया गया है पुनः लौटकर आने पर गड्ढे में अवशिष्ट जल की मात्रा के आधार पर भूमि को उत्तम, मध्यम तथा अधम की संज्ञा से अभिहित किया गया है। इसमें निर्देश है कि स्वच्छ जल से पूर्ण गड्ढे में तीर गाड़ देना चाहिए। यदि गड्ढे में उतना ही जल शेष रहे तो उसे उत्तम भूमि तथा यदि जल एक अङ्गुल कम हो जाए तो उस मध्यम भूमि और दो अंगुल कम होने पर उसे अधम भूमि जानना चाहिए गड्ढे में जल अत्यल्प रह जाने पर उस भूमि को अत्यन्त हीन समझकर त्याग देना चाहिए।[3]

---

करप्रमाणं कुर्वीत खातं तदभूमिमध्यगम्।
ततस्तन्मृदमाकृष्य तत् तथैवानुपूरयेत्।
खातधिकमृदुक्ता भू श्रेष्ठा मध्या च तत्समा।
प्रहीन खातमृत क्षोणी हीना शस्ता न सा नृणाम्। स० सू० भ० नि० 10/66-69

1. खन्यमाने यदा खाते तन्मृदोऽन्तर्विलोक्यते।
मणिशङ्खप्रवालादि तदाति श्रेयसी क्षितिः।। स० सू० भ० नि० 10/70

2. भृत्वाद्भिः खातमापूर्णे तस्मिन् पदशतं व्रजेत्।
तावच्चेदागमेऽम्भः स्यात् तदा भूः सार्वकामिकी।।
मध्यमात्र प्रहीणे स्यात् ततो हीनतरेऽधमा। स० सू० भ० नि० 10/71-72

3. खातं तत्रोदकैर्भृत्वा शिल्पी शतपदं व्रजेत्।
अर्धे समे च पादोने कनिष्ठोत्तममध्यमाः।।
पुण्योदकैभृतं खातमूर्ध्व बाणं समुत्क्षिपेत्।
भृते मही चोत्तमा स्यान्मध्याङ्गुलहीनतः।।
द्वयङ्गुलोने कनिष्ठः स्यात् त्रिविधं भूमिलक्षणम्।
अल्पोदकेऽतिहीना स्याद्वर्जयेदधमाधमम्।। अ० पृ० 51/9-11

भूमि परीक्षा की इस विधि का वर्णन राजवल्लभमण्डनम्[1], विष्णुधर्मोत्तर पुराण[2], विश्वकर्माप्रकाश[3], शिल्परत्न[4] तथा वृहत्संहिता आदि ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है।

मानसार[5] एवं मयमतम्[6] में कीचड़ मात्र शेष रहने से भूमि धन-धान्य का विनाश करने वाली एवं दरार फटी हुई भूमि को अधम अर्थात् वास्तुविनाशकारक कहा गया है। कुछ ग्रन्थों के विवरण अनुसार गड्ढें को जल से भरने पर यदि वह जल स्थिर तो घर में स्थिरता बनी रहेगी, यदि वह जल दक्षिणावर्त घूमने लगे तो उस भूमि को सुखकारक कहा गया है, वामवर्त जल घूमने व शीघ्र शोषण से गृहपति की मृत्यु का भय होता है।[7] बृहत्संहिता में भूमि परीक्षा की इस विधि के अतिरिक्त वहाँ पर स्थित धूली से एक आढ़क प्रमाण टोकरी को भरकर पुनः उस धूली को तौलने का निर्देश है यदि वह चौंसठ (64) पल तुल्य हो तो वह भूमि गृहनिर्माण हेतु शुभ है।[8]

भूमि परीक्षा की चौथी प्रक्रिया समराङ्गणसूत्रधार में भोज ने वर्णित की है जिसमें कहा गया है कि पूर्वोक्त रीति से खोदे हुए गड्ढ़े में ब्राह्मणादि वर्णानुरूप क्रमशः सफेद, लाल, पीली एवं काली फूल मालाएँ रखनी चाहिए। प्रातः काल परीक्षा करने

---

1. तत् कृत्वा जलपूर्णमाशतं पदं गत्वा परीक्ष्य पुनः।
पादोनेऽर्द्धविहीनकेऽथ निभृते मध्याधमेष्टाम्बुनि।। रा० व० म० 1/16
2. उदकं च तथा यस्यां राम न जीर्यते।
सा० प्रशस्ता क्षितिरतस्यां निवेशं कारयेद् बुधः।। वि० ध० पु० 2/29/7
3. जलेनापूरयेच्छ्वभ्रं शीघ्रं गत्वा पदैः शतम्।
तथैवागम्य वीक्षते न हीनसलिला शुभा।। वि० प्र० 1/62
4. क. तत् खातं वा जलपूर्णं कृत्वा शतपदं व्रजेत्।
पुनरागच्छतः प्राग्वत् पूर्णं चेद् भूमिरूत्तमा।। शि० र० 3/19
ख. यवन्यूना मध्यमा स्यात् त्याज्या न्यूना ततोऽधिकम्।। शि० र० 3/20
5. प्रभाते तु परीक्ष्येमं (क्षेत) रूपं स्थपतिभिः सुधीः।
किञ्चिच्छेषं जलं प्रेक्ष्य गृह्येतं (ह्यातां) मंगलाय वै शोषितं धनधान्यनां क्षयं क्लिन्ने विनाशितम्।। मा० सा० 5/16-17
6. अहन आदौ परीक्षेत् तं कूपं स्थपतिर्बुधः।
सावशेषं जलं दृष्ट्वा तद् ग्राह्यं सर्वसम्पदे।
क्लिन्ने वस्तुविनाशय शुष्के धान्यधनक्षयः। म० म० 4/16-17
7. प्रेक्ष्य कर्तु (कर्त्ता तु) तन्मध्ये प्रदक्षिण चरोत्तरम् (र उत्तममत्र्ह। मा० सा० 5/18
8. श्वभ्रमथावाऽम्बुपूर्णं पदशतभित्वा गतस्य यदि नोनम्।
तद्धन्य यच्च भवेत्पलान्यपामाढकं चतुःषष्टिः। बृ० स० 53/93

पर जिस वर्ण की माला न मुर्झाई हो वह भूमि उस वर्ण के लिए प्रशस्त मानी गई है।[1] भूमि परीक्षा की पाँचवी प्रक्रिया में समराङ्गणसूत्रधार[2] में वर्णन करते हुए मिट्टी के चार बर्तनों में दीपक जलाकर चारों दिशाओं में रखने का निर्देश है। जिस दिशा का दीपक चिरकाल तक जलता रहे उस दिशा के वर्ण के लिए वह भूमि सुखप्रद मानी गई हैं उत्तर दिशा का दीपक देर तक जले तो वह भूमि ब्राह्मण के लिए शुभ है, पूर्व वाला जले तो क्षत्रिय के लिए, दक्षिण दिशा वाला जले तो वैश्य के लिए तथा यदि पश्चिम दिशा वाला दीपक चिरकाल तक जला रहे तो वह भूमि शूद्र के लिए शुभ है। मत्स्य पुराण के अनुसार एक हस्त प्रमाण से गड्ढा खोदकर उसे अच्छी तरह गोबर से लीपकर कच्चे मिट्टी के पात्र में घी रखकर चार बत्तियाँ जलाकर चारों दिशाओं में मुख करके रख दें। इस ग्रन्थ में ब्राह्मणादि वर्णों के लिए दिशाओं का क्रम उत्तर से शुरू न करके पूर्व से शुरू किया है। यदि पूर्व दिशा की बत्ती अधिक समय तक जलती हरे तो वह भूमि ब्राह्मण के लिए शुभ है इसी प्रकार क्रमशः पश्चिम, उत्तर, दक्षिण की बत्तियाँ यदि चिरकाल तक जलें तो वह भूमि क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों के लिए शुभ है तथा यदि सामूहिक रूप से वास्तु दीपक चारों दिशाओं में बराबर काल तक जले रहें तो वह भूमि सभी वर्णों तथा सभी प्रकार के वास्तुकार्य के लिए श्रेष्ठ कही गई है।[3]

भूमि की उपजाऊ शक्ति के आधार पर मत्स्यपुराण में भूमि परीक्षा की विधि का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि इसमें हल द्वारा भूमि की जुताई करके सभी प्रकार के बीजों को बोना चाहिए यदि यह बीज तीन रात्रि में उग आएँ तो उस भूमि को उत्तम कहा गया है। पाँच रात के बीज उगे तो मध्यम भूमि और सात रात में बीज उत्पन्न करने वाली भूमि को कनिष्ठ कहा गया है। कनिष्ठ भूमि को वास्तुकार्य में सर्वथा

---

1. खाते सितादिमाल्यानि यस्यां निश्युषितानिच।
   यद्वर्णानि च शुष्यन्ति सा तद्वणेष्टदा मही।। स० सू० भ० नि० 10/73
2. खातस्योद्कभृतिषु दिक्षु प्रज्वालयीत वा।
   दीपान् यस्यां चिरं तिष्ठेत् तद्वर्णेष्टप्रदा हि सा।। स० सू० भ० नि० 10/74
3. अरत्निमात्रे गर्ते वै स्वनुलिप्ते तु सर्वतः।
   घृतमामसरावस्थं कृत्वा वर्तिचतुष्टयम्।।
   ज्वालयेद्भूपरीक्षार्थं सम्पूर्णं सर्वदिङ्मुखम्।
   दीप्तिपूर्वादि गृहणीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः।।
   वास्तुसामूहिको नाम दीप्यते यस्तु सर्वतः।
   शुभदः सर्ववर्णानां प्रासादेषु गृहेषु च।। म० पु० 253/13-16

त्याज्य कहा गया है।[1] वास्तुसौख्यम्कार ने चतुर्दिक् प्लव के आधार पर भूमि परीक्षण का वर्णन करते हुए कहा है कि ब्राह्मण चतुर्दिक्षु प्लव (उत्तर, ईशान, पूर्व आदि सभी दिशा की प्लव) भूमि पर भी निवास कर सकते हैं, किन्तु शेष तीन वर्णों में क्षत्रिय पूर्व, दक्षिण, पश्चिम प्लव, वैश्य दक्षिण पश्चिम प्लव, शूद्र पश्चिम प्लव में निवास बना सकता है।[2] इसके अतिरिक्त वास्तुसौख्यम् में भूमि परीक्षण की पद्धति का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि गृहार्थ भूमि के बीच में एक हाथ घन हस्त का खात खोदें और उस खात को उस खात की मिट्टी से ही भरें, यदि बराबर हो जाए तो समान, गढ्ढा न भरे तो अशुभ एवं मिट्टी अधिक होने पर शुभ होता है।[3]

## दिक्साधन

वास्तु भूमि की पूर्वोक्त साधनों से भली-भाँति परीक्षा करके भूमि की दिशा का ज्ञान करना चाहिए। गृह निर्माण हेतु भूमि की दिशा का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। प्रासाद, गृह या आलिन्द (द्वार के बाहर का चौंतरा) द्वार एवं कुण्ड इनके निर्माण में विशेष रूप से दिक्साधन करना चाहिए। क्योंकि दिशा के सही ज्ञान के विना निर्माण करने से कुल का नाश होता है। सर्वप्रथम वास्तुभूमि के धरातल को दर्पण के मध्य भाग के तुल्य सम बनाकर सिद्धान्त ग्रन्थों में प्राप्त विधि के अनुसार स्पष्ट पूर्वापर का साधन करके भूमि पर निर्माण करना चाहिए।

बृहद्वास्तुमाला में सिद्धान्त शिरोमणि का उद्धरण देते हुए कहा गया है कि वास्तुभूमि को जल की तरह एकदम समतल बनाकर उस पर एक वृत्त बनाकर उस वृत्त के केन्द्र में एक बारह अंगुल का शङ्कु रखना चाहिए। उस शङ्कु की छाया पूर्वाह्न (12 बजे दिन से पहले) में उस वृत्त की परिधि में जहाँ प्रवेश करे उसे पश्चिम दिशा जानना चाहिए और मध्याह्नोत्तर (12 बजे दिन के बाद) उस शङ्कु की छाया उस वृत्तपरिधि से निकलती हुई जहाँ स्पर्श करे वह पूर्व दिशा होगी। अतः छाया प्रवेश तथा छाया निर्गम काल की पृथक्-पृथक् कान्ति ज्याओं के अन्तर को छाया कर्ण के

---

1. फालकृष्टेऽथवा देशे सर्वबीजानि वापयेत्।
त्रिपञ्चसप्तरात्रेण च यत्राऽऽरोहन्ति तान्यपि।।
ज्येष्ठोत्तमा कनिष्ठा भूवर्जनीयतरा सदा।। म० पु० 253/17-18
2. उदगादिप्लवमिष्टं विप्रादीनां प्रदक्षिणेनैव।
विप्रः सर्वत्र वसेदनुवर्णं यथेष्टमन्येषाम्।। वा० सौ० 23
3. गृहमध्ये हस्तमितं खात्वा परिपूरितं पुनः श्वभ्रम्।
यद्यूनमनिष्टं तत् समे समं धन्यमधिकं यत्।। वा० सौ० 24

मान से गुणा करके लम्बज्या से भाग देने पर अङ्गुलादि लब्ध हो उतना अयन की दिशा की ओर वृत्त में चला दे तो स्पष्ट पूर्व बिन्दू हो जाता है। उसके बाद पूर्व और पश्चिम दोनों बिन्दुओं से मत्स्योत्पादन करके याम्योत्तरा का साधन करना चाहिए।[1] शुल्वसूत्र में भी दिक्साधन विधि का उल्लेख मिलता है कि ध्रुवाभिमुख स्थापित शुल्वसूत्र रूप रेखा के उत्तर मत्स्य बनावें, उस मत्स्य के मुख-पुच्छगत रेखा पूर्व एवं पश्चिम होगी तथा मत्स्य मुखपुच्छगत रेखा के मध्य बिन्दु में कृत लम्ब रेखा दक्षिणोत्तर रेखा होगी।[2]

नक्षत्रों के आधार पर दिशा ज्ञान का वर्णन वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में मिलता है। उज्जयिनी से दक्षिण दिशा में रहने वालों को चित्रा और स्वाती नक्षत्र के अन्तर से पूर्व पश्चिम दिशा का ज्ञान करना चाहिए। दृष्टि को स्थिर करके पहले नालिका द्वारों चित्रा नक्षत्र का वेध करके नालिका के अग्र भाग से दूसरा लम्ब धरती पर गिराना चाहिए। इन दोनों लम्ब मूलों से सूत्र बांधने से यही पूर्व-पश्चिम दिशा हो जाएगी। उज्जयिनी के उत्तर भाग के निवासियों को कृत्तिका नक्षत्र के वेध से प्राची दिशा का ज्ञान करना चाहिए अर्थात् कृत्तिका नक्षत्र का वेध करके नालिका के अग्र तथा मूल दोनों कोणों से दो लम्ब मूलों में सूत्र बांधने ठीक-ठीक पूर्व पश्चिम दिशा का ज्ञान हो जाएगा।[3]

## भू दोष निरूपण

वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में भू क्षेत्र का भी वर्णन विस्तार से प्राप्त होता है।

---

1. वृत्तेऽभः सुसमीकृते क्षितिगते केन्द्रस्थशङ्कोः
क्रमाद् भागं यत्र विशत्यपैति च यतस्तत्रापरैन्द्रयौ दिशौ।
तत्कालापमजीव्योस्तु विवराद्भाकर्णमित्या हताल्लम्बज्याप्तमिताङ्गु-
लैरयनदिश्यैन्द्री स्फुट्य चालिता।।
तन्मत्स्यादयः याम्यसौम्यककुभो सौम्या ध्रुवे वा
देकस्मादिप भाग्रतो भुजमितां कोटिमितां शङ्कुतः।
न्यस्येद्याष्टिमृजुं तथा भुवि यथा यष्ट्यग्रयोः संयुतिः
कोटिः प्राच्यपरा भवेदिति कृते बाहुश्च याम्योत्तरा।। बृ० वा० 2/4-5
2. ध्रुवलम्बकरेखाया रेवान्ते सौम्ययाम्यहरितौ स्तः।
तन्मत्स्यपुच्छमुखतः पश्चिम पूर्वाभिधे विद्यात्।। वा० सा० 3/7
3. चित्रास्वात्यन्तरे श्रोणादक्षिण पथवासिनाम्।
प्राची तु कृत्तिका ज्ञेया उत्तरापथवासिनाम्।। वा० र० 2/5

समराङ्गणसूत्रधार में भोज ने भू दोषों का वर्णन करते हुए कहा है कि जो भूमि भस्म, अंगार, कपाल एवं हड्डियों, तुष, बाल, विष, पत्थर, चूहों के बिल, बांबियों एवं पत्थरों आदि से भरी हुई हो वह भूमि निवास हेतु त्याज्य है। सूखी, कम उपजाऊ, निम्न, कटी-फटी, ऊसर, उल्टी जल बहाने वाली, कम वर्षा वाली, विषम, कड़वे, निस्सार, कांटेदार, सूखे, एवं विना फूलों वाले वृक्षों से युक्त, हिंसक पक्षियों एवं कीड़े-मकोड़ों से युक्त भूमियाँ गर्हित कही गई हैं। इन कुलक्षणों से युक्त भूमियों पर पुण्य, भोज्यान्न, भक्ष्यान्न तथा पेयादि, तूर्य आदि बाजों की ध्वनि से तत्क्षण नष्ट हो जाते हैं।[1] जिस भूमि पर सरिताएँ पूर्व की ओर बहती हो एवं जिस भूमि से पक्षियों की चर्बी, खून, मज्जा, पुरीष, मूत्र, मल, तेल और शव के समान गंध आए उसको गृह के अयोग्य समझना चाहिए।[2] जो धरा सदैव धूम्रवर्ण अथवा मिश्रवर्ण या विवर्ण या रूक्षवर्ण वाली हो वह भी कल्याण कारक नहीं है एवं जो भूमि कड़वी, कसौली अथवा नमकीन या पसीने वाली हो तथा स्पर्श में सदैव रूखी, तीखी एवं जो सदा ठण्डी अथवा गर्म हो ऐसी भूमि को वास्तुकर्म के लिए सदा त्याग देना चाहिए।[3]

---

1. भस्माङ्गारकपालास्थितुषकेशविषाश्मभिः।
मूषकोत्करवल्मीक शर्कराभिश्च निर्भरा।।
रूक्षा प्ररोहिणी निम्ना भङ्गुरा सुषिरोषरा।
वामावर्तजलास्त्राविण्यसारा विषमोन्नता।।
कटुकण्टकिनि सारशुष्क निष्फलपादपाः।
क्रव्यात्पक्षिसमाकीर्णा कृमिकीटवती च या।।
सुकृतान्यपि भोज्यान्नभक्ष्यपानानि तत्क्षणात्।
यस्या विनाशमायान्ति सह तूर्यादिनिस्वनैः।। स० सू० भ० नि० 10/53-56
2. सरित पूर्ववहा यस्यां पुरार्थं तामपि त्यजेत्।
बहूनाऽपि यतस्तत्र काले नायाति सा पुनः।।
वसासृङ्मज्जविण्मूत्रमलकोशपतत्रिणाम्।
समगंधा त्यजेदुर्वी तैलस्य च शवस्य च।। स० सू० भ० नि० 10/57-58
3. सदैव धूम्रवर्णा या मिश्रवर्णाऽथवा मही।
विवर्णा रूक्षवर्णा वा सा न स्यादिष्टदायिनी।।
तिक्ताम्ललवणा चापि भूमिर्या स्वेदला भवेत्।
तां लोकविद्वेषकरी त्यजेत् पुरनिवेशने।।
या रूक्षरवरसंस्पर्शा सदैवोष्णा हिमाथवा।
अनिष्टसुखसंस्पर्शा या स्यात् तामपि सन्त्यजेत्।। स० सू० भ० नि० 10/59

स्यार, ऊँट, कुत्ता एवं गधे के समान आवाज़ वाली अथवा टूटे बर्तन के सदृश ध्वनि वाली भूमि सर्वथा त्याज्य है।[1] विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में भूमि दोष का विवेचन करते हुए कहा गया है कि जहाँ काँटे वाले तीखे विदारक वृक्ष तथा वल्मीक एवं अस्थियों के ढेर होते हैं एवं जो अनेक छिद्रों, गड्ढों आदि से युक्त होती है तथा जहाँ पर वराह, गर्दभ, व्याघ्र, सिंह, भालू, मूषक विच्छू आदि रहते हैं। जो पृथ्वी शमशान के पास स्थित होती है और जो भूसे से युक्त, भूकम्प से फटी हुई तथा अग्नि से जली हो उस भूमि को निवास हेतु त्याग देना चाहिए।[2] मानसार एवं मयमत में गृह निर्माण में भू दोष का विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है कि जो भूमि राजप्रसाद, सभागार, चैत्य, देवालय के पास हो, कांटे एवं शाल वृक्षों से युक्त हो, जिसकी आकृति कूर्म के समान, वृत्ताकार, त्रिकोण, वज्र तुल्य विषम, जिस भूमि पर चाण्डाल के गृह की छाया पड़े, जो चर्मकारों के गृह के समीप हो, जो कर्मकारों के गृह से चारों ओर से घिरी हो तथा चौराहे पर स्थित हो, जो पणव मृदङ्ग की तरह मध्य में गहरी हो, जिसका आकार पक्षी के मुख, मुरज तथा मत्स्य के सदृश हो, जिसके चारों कोनों पर महावृक्ष एवं गाँवों के प्रधान वृक्ष हों, जिस भूमि के पास साँप का आवास और जो विभिन्न पेड़ों से युक्त हो, जिसमें वृक्षों से युक्त उद्यान अथवा शाल वृक्षों के उद्यान स्थित हो, जिस पृथ्वी की आकृति वराह अथवा शूकर एवं वानर के समान हो, जो ओखली तथा शूर्प के समान आकार वाली हो, जो शंख, पक्षी, विड़ाल, छिपकली की आकृति वाली एवं ऊषर तथा कृमियों से युक्त हो, जो बहुत से प्रवेश मार्ग वाली अथवा मार्गरहित हो, ऐसी भूमि दोष युक्त मानी गई है।[3] शिल्परत्न में भूमि के दोष का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जो भस्म, अङ्गार, भूसा, अस्थि आदि से युक्त भूमि को निवास के लिए त्याज्य माना है।[4] मनुष्यालयचन्द्रिका में भूमि दोष के सम्बन्ध उपर्युक्त शिल्पशास्त्रों का समर्थन किया गया है।[5]

---

1. क्रोष्टूष्ट्रश्वखरस्वाना या च निर्झरनिस्वना।
   भिन्नभाण्डसमक्ररध्वनितापि च नेष्यते।। स० सू० भ० नि० 10/62
2. विश्वकर्मवास्तुशास्त्र 5/24-27
3. क. मानसार 4/12-19
   ख. मयमत 3/12-18
4. भस्माङ्गरतुपास्थिकेशचितिवल्मीकादिभिः संयुता।
   वर्ज्या मध्यनता सगर्भकुहरा विस्रा विदिक्स्थापि च।। शिल्परत्न 3/2
5. वृत्तार्धेन्दुनिभा त्रिपञ्चरसकोणा शूलशूर्पाकृतिमत्स्यानेकपकूर्मपृष्ठकपिलावक्त्रोपमा मेदिनी। मनुष्यालय चन्द्रिका 118

मयमत में गंध के आधार पर भूमि दोष का विवेचन करते हुए कहा गया है कि जो शव, मत्स्य तथा पक्षियों की गन्ध से युक्त हो वह भूमि दोष पूर्ण है।[1] मानसार के अनुसार जो पृथ्वी जली हुई तथा दुर्गन्ध से युक्त हो और जहाँ से अण्डज प्राणियों, मत्स्य एवं शव के समान गन्ध आती हो, वह भूमि गृहनिर्माण के लिए अप्रशस्त है।[2] रस (स्वाद) के आधार पर मनुष्यालयचन्द्रिका में भूमि दोष का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जिस भूमि का वर्गीकरण वर्ण, गन्धादि द्वारा स्पष्ट न हो, उसे सर्वथा त्याग देना चाहिए।[3]

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि मानव की स्थूल आवश्यकताएँ भोजन, वस्त्र तथ मकान है। वह अपना गृह इसलिए बनाता है कि वह सुरक्षित निवास कर सके। गृह निर्माण के लिए उसे सर्वप्रथम भूमि चयन करना चाहिए क्योंकि यहाँ उसे निवास करना है क्या वह रहने योग्य है। इसके पश्चात् उसे किसी वास्तुविशारद् द्वारा सम्यक् रूप भू परीक्षण करवाना चाहिए क्योंकि इससे उसके गृह की भूमि की श्रेष्ठता का पता चलता है एवं किसी भी भूमि दोष का ज्ञान किया जा सकता है। मनुष्य को गृहनिर्माण से पहले गृह की दिशा का निर्धारण वास्तुशास्त्रीय तथ्यों के आधार पर कर लेना चाहिए। इससे भविष्य में अपने गृह में अनिष्ट से बचा जा सकता है तथा गृह में सदैव शान्ति का वातावरण बना रहता है।

• • •

1. ............. तैलासृग्गन्धिका च या।
शवमीनपक्षिगन्धा सा धरा निन्दिता वरैः।। मयमत 3/10-11
2. ........... दग्धदुर्गन्धिनी च या।
अण्डजमीनगन्धैश्च (न्धा च) शवगन्धैश्च (न्धा च) वर्जिता।। मानसार 4/11
3. सङ्कीर्णरूपा वसुधात्र वर्णैर्गन्धै रसैश्चाखिल वर्जनीया।। मनुष्यालयचन्द्रिका 131

4

# वास्तुसौख्यम् में वर्णित विविध ग्रहों का परिशीलन

मानव प्रारम्भ से ही जिज्ञासु रहा है। वह प्रकृति के रहस्यों का ज्ञान करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहा है। अपने विकास की परम्परा में वह शनैः शनैः प्रकृति के गुह्यतम रहस्यों से परिचित होता गया। धीरे-धीरे उसे ज्ञात हो गया कि प्रकृति में परिवर्तन कैसे होते हैं तथा साथ ही वह यह जान गया कि खगोलीय पिण्डों के कारण से बाह्य प्राकृतिक परिवर्तन सृष्टि में होते हैं। उन्हीं खगोलीय पिण्डों का अन्तरिक प्रभाव उसके अपने जीवन पर पड़ता है। खगोलीय अध्ययन एवं ग्रहवेध की परम्परा से ग्रहों की दूरी, रूप, रंग, गति एवं जीवन के साथ उनके तादात्म्य के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान हो गया।

वास्तुशास्त्र, गणित एवं ज्योतिष का प्रयोगात्मक विज्ञान है क्योंकि स्थापत्य की आधारभूता पृथ्वी सौरमण्डल के साथ सम्बद्ध है। सूर्य, चन्द्रमा तथा नक्षत्रों का प्रभाव इसके ऊपर परिलक्षित होता है। इसीलिए प्राचीनकाल से ही इस संसार में वास्तुप्रकल्पना में आयादि विचार, नक्षत्र-परीक्षा, लग्न, तिथि एवं दिनों का निर्धारण होता आया है। मापन वास्तु प्रकल्पना का आधार है। माप के बिना सुष्ठु प्रकल्पना सम्भव नहीं है एवं इस कार्य में गणितशास्त्र का प्रयोग होता है। वास्तु कर्म में ज्योतिष के आधार पर आकृति का निर्धारण होता है इसलिए वास्तुशास्त्र का एक अन्य सहयोगी शास्त्र गणित शास्त्र भी है। जन्म के समय ग्रहों की स्थिति उनकी गति एवं संचार, मनुष्य के जीवन पर उन ग्रहों के प्रभाव का ज्ञान होता है। वर्तमान समय में किस मनुष्य को कौन सा ग्रह शुभाशुभ फल प्रकट करता है। इसका ज्ञान हमें ज्योतिष के आधार पर होता है।

ज्योतिष शास्त्र का वास्तु एक प्रमुख अंग है। गृह निर्माण के लिए गृहनिर्माता को सर्वप्रथम गृहारम्भ में मुहूर्त्त का निर्णय करना होता है। इसके लिए वह ज्योतिष की सहायता लेता है। इसके आधार पर मनुष्य के जन्म राशि के आधार पर उसके ग्रहों की स्थिति, नक्षत्र, योग, तिथि, भाव विचार, द्वादश भावों आदि पर विचार किया

जाता है। ग्रहों की अवस्था के कारण कौन-सा ग्रह किस भाव में हो होगा तो गृहारम्भ निर्विघ्न सम्पन्न होगा। लग्न समय की जन्म कुण्डली में विभिन्न ग्रहों की पृथक्ता भावावस्था में जो पृथक्-पृथक् योग बनते उनका वास्तु में क्या फल होगा इसका वर्णन भी वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में किया गया है।

वास्तुशास्त्र में वास्तु के लगभग समस्त कार्य ग्रह, नक्षत्र, योग, तिथि आदि के अनुसार शुरू किए जाते हैं। वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में ग्रहों के बारे में व्यापक वर्णन मिलता है। वास्तुसौख्यम् में भी ग्रहों के आधार पर वास्तु के विषय में विस्तार से विवेचन किया गया है।

## गृहायुष्यकारक ग्रह विचार

वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में गृह की आयु के विषय में ग्रहों के आधार पर विभिन्न-विभिन्न मत दृष्टिगोचर होते हैं। वास्तुरत्नाकर[1] में गृह की आयु का विवेचन करते हुए कहा गया है कि यदि गृहारम्भ करते समय लग्न में वृहस्पति, सप्तम स्थान में बुध, तीसरे स्थान में शनि, षष्ठ स्थान में सूर्य एवं चतुर्थ स्थान में शुक्र हो तो गृह की 100 वर्ष की आयु होती है तथा गृहारम्भ करते समय यदि लग्न में शुक्र, दशम स्थान में बुध, केन्द्र स्थान (1, 4, 7, 10) में वृहस्पति और एकादश भाव में सूर्य स्थित हो तो उस गृह की 100 वर्ष की आयु होती है।[2] सिद्धान्त शिरोमणि के अनुसार गृहारम्भ करते समय यदि प्रथम भाव में शुक्र हो, पाँचवें में वृहस्पति हो, तृतीय भाव में रवि हो तो गृहायु दो सौ वर्ष की होती है।[3] इसी प्रकार का मत वृहद्वास्तुमाला[4] में भी प्राप्त होता है।

---

1. उदय गुरूरस्तगृहे शशिजः सहजेऽथ शनिश्च रविश्च रिपौ।
   जलगश्च सितो भवनस्य तदा शरदां शतमायुरूशन्ति बुधाः।। वा० र० 9/50
2. यदि विलग्नगते भृगुजोऽम्बरे शशिसुतः खलु केन्द्रगतो गुरूः।
   दिनकृतायगतश्च तदा बुधैः शतमितायुरूदीरितमालयम्।। वा० र० 9/51
3. लग्नेः भृगुः पुत्रगतश्च जीवः, षष्ठः कुजस्तिग्मकरस्तृतीयः।
   निवेशने यस्य गृहस्य तद्धि, शतद्वयं तिष्ठति वत्सराणाम्।। सि० शि० 20/224
4. क. जीवलग्नमुपागते शशिसुते यामित्रगेऽर्के रिपौ।
   शुक्रेऽब्धौ सहजे शनौ च शरदां गेहं शतं तिष्ठति।। बृ० वा० 82

   ख. भृगुसुत इह लग्ने ह्यायगेऽर्के च खे ज्ञे,
   गृहमपि शतमब्दान् स्थायि केन्द्रे सुरेज्ये।
   द्विगुणमपि च शुक्रे मूर्तिगे विक्रमेऽर्के,
   सुरगुरूसुतसंस्थे भूमिपुत्रे च षष्ठे।। वही, 183

वास्तुरत्नाकर में एक अन्य मत को अभिव्यक्त करते हुए कहा गया है कि यदि चन्द्रमा दशम स्थान में हो, वृहस्पति चतुर्थ भाव में हो, मङ्गल तथा शनि एकादश स्थान में हों तो ऐसे समय में गृहारम्भ करने से गृह की आयु 80 वर्ष होती है।[1] इस प्रकार गृहायु के विषय में विवेचन बृहद्वास्तुमाला[2] में भी मिलता है। इसके अतिरिक्त वास्तुसौख्यम्[3] में भी इन्हीं मतों का समर्थन किया गया है।

**गृह लग्नादि का ग्रह फल**

वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में गृहारम्भ में लग्न में ग्रहों के फल के बारे में पर्याप्त विवेचन मिलता है। वास्तुमाणिक्यरत्नाकर[4] के अनुसार यदि गृहारम्भ के समय लग्न में सूर्य, चन्द्रमा, शनि तथा मंगल हो तो वे अशुभ होते हैं। बुध, गुरू, शुक्र ये ग्रह लग्न में हों तो मनुष्य को ग्रह शुभफल देते हैं। बृहद्वास्तुमाला[5] में ग्रह का भावानुसार फल बताते हुए कहा गया है कि दूसरे स्थान में सूर्य से हानि, चन्द्रमा से शत्रुनाश, मंगल से बन्धन, बुध से द्रव्य सम्पत्ति प्राप्त होती है एवं वृहस्पति से धर्मसमागम, शुक्र से विनोद तथा शनि से विघ्न होता है। इसी ग्रन्थ में लग्न चक्र के तृतीय स्थान के फल के बारे में विवेचन करते हुए कहा गया है कि तीसरे स्थान में शुभग्रह शुभकारक होते हैं। तृतीय स्थान में पाप ग्रह भी शुभ होते है एवं शीघ्र इच्छाओं पूर्ण करने वाले होते हैं। इस प्रकार यदि चतुर्थ स्थान में गुरु हो तो राजद्वार से सम्मान मिलता है। चतुर्थ भाव में चन्द्रमा सदा लाभदायक होता है। शुक्र भूमि लाभ, सूर्य मित्र वियोग, मंगल मित्र भेद, चन्द्रमा बुद्धि नाश तथा शनि लाभदायक होता है।[6]

---

1. शशाङ्कजीवौ खरसातलस्थौ कुजार्कजौ लाभगतौ च यस्य।
प्रारम्भकाले भवनस्य यस्य स्थितिर्निरूक्ता शरदामशीतिः।। वा० र० 9/53
2. प्रारम्भकाले यदिमन्दभौमौ लाभश्रितौ देवगुरूश्चतुर्थे।
चन्द्रोदये चेच्छरदामशीतिः स्थितिर्नियुक्ता भवनस्य सद्भिः।। बृ० वा० 86
3. वा० सौ० पृ० 426, 427, 428
4. लग्ने रविः चन्द्रशनी भौमे नेष्टो बुधो गुरूः।
शुक्र एते ग्रहा गेहे प्रयच्छन्ति नृणां शुभम्।। वा० मा० र० 126
5. द्वितीयस्थे रवौ हानिश्चन्द्रे शत्रुक्षयो भवेत्।
भुसुते बन्धनं प्रोक्तं नानाविध्नाश्च भानुजे।।
बुधे द्रविणसंपत्तिर्गुरौ धर्मसमागमः।
यथा काम विनोदेन भृगौ कालं व्रजेदिह।। बृ० वा० मा० 89-90
6. सौम्यग्रहास्तृतीयस्थाः पापा अपि विशेषतः।
सिद्धिः स्याचिरादेव यथाभिलषितं प्रति।।

लग्न के फल पर विचार करते हुए संग्रह शिरोमणि[1] में यह अभिव्यक्त किया गया है कि अगर गृहारम्भ के समय चर लग्न, चर नवांश, रिक्ता तिथि, रविवार, मंगलवार दिन 1-8-6-12 स्थानों में चन्द्रमा एवं अष्टम में पापग्रह हो तो स्वामी का नाश होता है। पञ्चम स्थान के फल के बारे में बृहद् वास्तुमाला में कहा गया है कि यदि पञ्चम स्थान में गुरु हो तो मित्र, वस्त्र, धन, लाभ कराता है एवं गृह निर्माण के समय यदि शुक्र पञ्चम भाव में हो तो पुत्र, धन एवं लाभ प्राप्त होता है बुध हो तो सुवर्ण भूषण, सूर्य पुत्र सम्बन्धी कष्ट, चन्द्रमा कलह, मंगल विरोध, शनि काम विनाशकारक होता है। गृहारम्भ के अवसर पर सूर्य षष्ठ भाव में हो तो राजपूज्य, चन्द्रमा से तुष्टि, मंगल से लाभ, शनि से शत्रुबल नाश, गुरु से अर्थोदय, शुक्र से विद्यागम और बुध से सम्मान एवं ज्ञान में कुशलता प्राप्त होती है।[2] सप्तम तथा अष्टम भावस्थ ग्रहों के फल पर विचार करते हुए कहा गया है कि यदि गुरु सप्तम स्थान में हो तो हाथी बुध से घोड़े प्राप्त होते हैं एवं शुक्र से भूमियोग, सूर्य से कीर्ति भंग, मंगल से विद्रोह, चन्द्रमा तथा शनि से अंग-भंग, भय जड़ता होती है। अष्टम स्थान में सूर्य से शत्रुता, विपत्ति, चन्द्रमा से हानि, मंगल शनि से भय, बुध से मान धनप्राप्ति, वृहस्पति से महान् विजय और शुक्र से आत्मीयों से सुख प्राप्त होता है।[3] वृहद्वास्तुमाला में कहा

---

चतुर्थस्थानगे जीवे पूजासम्पद्यते नृपात्।
चन्द्रजे च सदा लाभो भूमिलाभस्तु भार्गवे।।
वियोगे सुहृदां भानौ मित्रभेदो धरासुते।
बुद्धिनाशो निशानाथे महालाभोऽर्कनन्दने।। बृ० वा० मा० 91-93

1. चरलग्ने चरांशे वा रिक्तामारार्कवासरे।
अंगाष्ठान्त्यारिगे चन्द्रे रन्ध्रे पापे क्षयः प्रभोः।। स० शि० 20/208

2. पञ्चमस्थे सुराचार्ये मित्रवस्त्रधनागमः।
शुक्रे पुत्रधनप्राप्तिर्हेमाभरणमिन्दुजे।।
सुतदुःखं सदा सूर्ये शशांके कलहप्रियः।
भौमे कामविरोधः स्याच्छनौ कामविमर्दनम्।।
षष्ठस्थानगते सूर्ये पूजा सम्पद्यते नृपात्।
चन्द्रे पुष्टिः कुजे प्राप्तिः सौरे शत्रुबलक्षयः।।
गुरौ चार्थोदयः प्रोक्तो भृगौ विद्यागमो भवेत्।
मानज्ञानस्य कौशल्यं नक्षत्रपतिनन्दने।। बृ० वा० मा० 94-97

3. क. लग्नात्सप्तमगे जीवे बुधे दैत्यपुरोहिते।
गजवाजिधरित्रीणां क्रमाद्भोग विनिर्दिशेत्।।
भास्करे कीर्तिभङ्गः स्यात्कुजे विग्रहमादिशेत्।
चन्द्रे मन्दे युते मान्द्यं हीनाङ्गत्वं भयं तथा।।

गया है कि नवम स्थान में वृहस्पति हो तो बुद्धि और भाग्यवृद्धि होती है बुध विविध भोग प्रदान करता है शुक्र से सामान्य भागोदय होता है। नवम स्थान में चन्द्रमा से धातुक्षीणता, सूर्य से धर्म हानि, मंगल से शक्ति हानि एवं शनि से काम दोष होता है।[1] इसी तरह दशम एकादश एवं द्वादश स्थान में गृहारम्भ के समय स्थित ग्रहों का विवेचन करते हुए कहा गया है कि दशम स्थान में शुक्र से शयन-आसन से वृद्धि, गुरु के दशमस्थ होने से सौख्य प्राप्त होता है, बुध से विजय मिलती है, सूर्य से धन वृद्धि, चन्द्रमा से खजाना की वृद्धि, मंगल से बल प्राप्ति, शनि से कीर्ति का नाश होता है। एकादश स्थान में सभी ग्रह विशेष शुभ फल देते हैं। द्वादश स्थान में सभी ग्रह उदासीनता देते हैं।[2] संग्रह शिरोमणि में ग्रह के फल के विषय में विचार करते हुए कहा गया है कि गृहारम्भ के समय अपनी राशि का चन्द्रमा लग्न में, केन्द्र में गुरु हो, शेष ग्रह मित्र राशि में, स्वोच्च में, स्वांश में हों तो गृह लक्ष्मीयुक्त चिरस्थायी होता है अथवा वे ही ग्रह नीचांश में हो तो निर्धन होता है।[3] वास्तुमाणिक्यरत्नाकर में नक्षत्र फल के बारें में वर्णन करते हुए कहा गया है कि विशाखा, आर्द्रा, धनिष्ठा, पूर्वाषाढ़, अश्विनी इन नक्षत्रों में जो गृहारम्भ करने से यह नक्षत्र तथा बार हो तो वह गृह धन-धान्य से युत होता है।[4] गृह नक्षत्र तथा चन्द्र नक्षत्र का शुभाशुभ ज्ञान का

---

ख. निधनस्थे सहस्रांशौ शत्रुता विपदः सदा।
हानिः शीतमयूखे च मङ्गले रविजे भयम्।।
बुधे मानधनप्राप्तिः सुरेज्ये विजयो महान्।
शुक्रः स्वजनतो दद्यात् सुखं पुंसां विशेषतः।। बृ० वा० मा० 98-101

1. नवमस्थनगे जीवे बुद्धिभाग्यविवर्द्धनम्।
बुधे विविधभोगाप्तिः शुक्रे मन्दोदयो भवेत्।।
चन्द्रे धातुक्षयः प्रोक्तो धर्महानिश्च भास्करे।
कुजे सामर्थ्यहानिः स्याद्रविजे कामदूषणम्।। बृ० वा० मा० 102-103

2. दशमस्थानगे शुक्रे शयनासनसिद्धयः।
सुराचायार्यै महत्सौख्यं विजयश्च तथा बुधे।।
मार्तण्डे धनवृद्धिश्च चन्द्रे कोषविवर्धनम्।
भौमे बलं सदा पुंसां शनौ कीर्तिविलोपनम्।।
लाभस्थनगताः सर्वे प्रयच्दन्ति शुभं फलम्।
व्यये सर्वे सदौदास्यं प्रदिशन्ति विशेषतः।। बृ० वा० मा० 104-106

3. स्वर्क्षे चन्द्रे लग्नगे केन्द्रगेज्यो लक्ष्मीवत् स्यातद्गृहं भूरिकालम्।
मित्रस्वोच्चांशस्थितैः खेचरेन्द्रैः नीचांशस्थैर्जायते निर्द्धनत्वम्।। स० शि० 227

4. द्वीशार्द्रावसुतोथर्क्षदस्रात्वाष्ट्रैः सशुक्रकैः।
शुक्रवारे कृतं गेहं धनधान्यसमन्वितम्।। वा० मा० र० 135

विवेचन करते हुए कहा गया है कि गृह का नक्षत्र और चन्द्रमा का नक्षत्र जो आगे हो तो गृह बनवाने वाला गृह में न रहे तथा गृह एवं चन्द्रमा का नक्षत्र जो पीछे का हो तो मकान खुद ढह जाय। यदि गृह का नक्षत्र तथा चन्द्रमा का नक्षत्र बगल का हो तो शिलान्यास शुभ होता है।[1] बृहद्वास्तुमाला में नक्षत्र फल का गृहारम्भ में विचार प्रकट करते हुए कहा गया है कि पुष्य, उत्तराषाढ़ा, उत्तराफाल्गुणी, उत्तराभाद्रपद, रोहिणी, मृगशिरा, श्रवण, आश्लेषा, पूर्वाषाढ़ा ये नक्षत्र वृहस्पति से युक्त होकर रहे और गुरुवार हो तो उसमें बनाया गया गृह पुत्र और राज्यदायक होता है।[2] वास्तुमाणिक्यरत्नाकर[3] में गृहारम्भ में असत्योग का फल प्रकट करते हुए कहा गया है कि पूर्वाभाद्रपद, स्वाती, भरणी, धनिष्ठा और ज्येष्ठा इन नक्षत्रों पर शनि हो तो तथा शनिवार भी हो तो उस दिन गृहारम्भ करने से राक्षस, यक्ष तथा पिशाच गृह को ग्रहण करते हैं अर्थात् इन लोगों का गृह में निवास हो जाता है। इसके अतिरिक्त मघा, मूला, हस्त, पुष्य, रेवती इन नक्षत्रों में यदि गृहारम्भ करने वाला नक्षत्र हो और मंगल उस नक्षत्र पर हो और गृहारम्भ के दिन मंगलवार भी हो तो वह गृह अग्नि से जल जाता है, कष्ट एवं पुत्र का नाश होता है।

## वास्तुसौख्यम् के अनुसार ग्रहों का परिशीलन

वास्तुसौख्यम् में भी वास्तु कर्म के लिए ग्रहों के फल, शुभाशुभ आदि का विचार किया गया है। गृहारम्भ में लग्न का फल प्रकट करते हुए कहा गया है कि मकर, वृश्चिक एवं कर्क लग्न में गृहारम्भ से नाश, मेष, धनु, तुला लग्न में गृहारम्भ में पूर्ति में अनावश्यक विलम्ब, मिथुन, कन्या, मीन में गृहारम्भ से धन-धान्य का लाभ होता है तथा कुम्भ, सिंह एवं वृष लग्न में आरम्भ से शीघ्र सफलता मिलती हैं।

---

1. पुरेश्चेद्गृहर्क्षं विधोर्वापि धिष्ण्यं न कर्त्ता वसेत् तत्र पृष्ठे खनिश्च।
   यदा पार्श्वगौ वास्तु रात्रीशधिष्णे शिलास्थापने भूरि भद्रं तदा स्यात्।। वा० मा० र० 124
2. पुष्यध्रवेन्दुहरिसर्पजलैस्सजीवैस्तद्वासरेण
   च कृतं सुतराज्यदं स्यात्।
   द्वीशाश्वितक्षवसुपाशिशिवैः सशुक्रे वारे
   सितस्य च गृहं धनधान्यदं स्यात्।। वृ० वा० मा० 110
3. अजपाद्वाभुभरणीवसुशक्रागतेऽर्कजे।
   शनिवारे कृतं गेहं गृह्यतेऽस्त्रपयक्षकैः।।
   मघामूलक्रूरेज्यान्त्यैः सौरेवरि महीसुते।
   वहि्नना दह्यते गेहं कृत्सनं सूनोर्विनाशनम्।। वा० मा० र० 136-137

इसी प्रकार गृहारम्भ में सूर्य लग्न मे हो तो वज्रपात, चन्द्रमा से कोशहानि, भौम से मृत्यु भय, शनि से दरिद्रता, जीव से धर्म, अर्थ तथा काम की सिद्धि, शुक्र से पुत्रोत्पत्ति, बुध से माङ्गलिक कार्य होते हैं। राहु से अस्त्रप्रहार का भय होता है।[1]

आय सम्बन्धी नक्षत्रों का विवेचन करते हुए कहा गया है कि शतभिषा, मघा, पूर्वाफाल्गुणी, उत्तराफाल्गुणी, अश्विनी, भरणी, ये नक्षत्र वृष आय के हैं। पूर्वाभाद्रपद, उत्तराभाद्रपद, रेवती, अश्विनी, भरणी, मघा से नक्षत्र गज आय के हैं। अनुराधा, ज्येष्ठा, मूला, पूर्वाषाढ़, उत्तराषाढ़, अभिजित्, श्लेषा, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा ये नक्षत्र दिग्द्वार हैं। इसके विपरीत दिशा का द्वार अनर्थकारी होता है।[2] गृह नक्षत्र की तारा का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि गृहस्वामी के नक्षत्र से गृह के नक्षत्र की संख्या को 9 से भाग देने पर जो शेष हो, उसे संख्यातुल्य क्रम से जन्म, सम्पत्, विपत्, क्षेम, प्रत्यरि, साधक, बुध, मैत्र, अतिमैत्र ये नव (9) ताराएँ होती हैं। इसमें गृह-नक्षत्र की तारा 3-5-7 अनिष्टकारी होती है।[3]

गृह नक्षत्र के राशि के ज्ञान वर्णन करते हुए वास्तुसौख्यम् में कहा गया है कि गृह में अश्विनी, भरणी, कृतिका नक्षत्रों की मेष राशि, मघा, पूर्वाफाल्गुणी, उत्तराफाल्गुणी नक्षत्रों की सिंह राशि, मूला, पूर्वाषाढ़, उत्तराषाढ़ नक्षत्रों की धनुराशि, शेष राशियाँ दो-दो नक्षत्रों की होती हैं।[4]

---

1. नाशं दिशन्ति मकरालिकुलीलग्ने मेषे घटे धनुषि कर्मसु दीर्घसूत्रम्।
   कन्याझषे मिथुनगे ध्रुवमर्थलाभो ज्योतिर्विदः कलशसिंहवृषेषु सिद्धिम्।।
   लग्नेऽर्केवज्रसम्पातः कोशहानिस्तु शीतगौ।
   मृत्युर्वसुन्धरापुत्रे दारिद्र्यं रविजे तथा।।
   जीवे धर्मार्थकामः स्युः सुतोत्पत्तिश्च भार्गवे।
   बुधे शुभाभिवृद्धिः स्याद्राहावस्त्रं प्रवर्तते।। वा० सौ० 411-413
2. वृषे वाजिपित्र्यत्रिभे चाश्वियुगमे गजेऽङ्घ्रिभात्पञ्चके पित्र्यभं च।
   ततो दिङ्मुखं मित्रभात्षट्सु सर्पे चतुष्केऽग्निभादन्यथानर्थकृत्स्यात्।। वा० सौ० 420
3. गृहभात्स्वामिभं गण्यं भक्तञ्च नवभिर्यदा।
   भागशेष समा तारा सप्तपञ्चत्रिकाधमाः।। वा० सौ० 144
4. अश्विन्यादित्रयं मेषे सिंहे प्रोक्तं मघात्रयम्।
   चापे मूलत्रयं ज्ञेयं शेषराशौ द्वयं द्वयम्।। वा० सौ० 146

**।। गृह में नक्षत्रों का राशि ज्ञान-चक्र ।।**

| मेष | वृष | मिथुन | कर्क | सिंह | कन्या | तुला | वृश्चिक | धनु | मकर | कुम्भ | मीन |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अ० | रो० | आर्द्रा | पुष्य | मघा | ह० | स्वा० | अनु० | मू० | श्र० | श० | उ० भा० |
| भ० | मृ० | पुन० | श्लेषा | पू० फा० | चि० | वि० | ज्येष्ठा | पू० षा० | ध० | पू० भा० | रे० |
| कृ० | 0 | 0 | 0 | उ० फा० | 0 | 0 | 0 | उ० षा० | 0 | 0 | 0 |

वास्तु कार्य में तिथि ज्ञान पर विचार करते हुए कहा गया है कि क्षेत्रफल (गृहांक) व 14 के गुणनफल में 30 के भाग शेष में प्रतिपदादि तिथि होती है रिक्ता तथा अमा तिथियाँ वास्तु-कार्य में निषिद्ध मानी गई हैं।[1]

वास्तुसौख्यम्कार में आय के शुभाशुभ पर विचार करते हुए कहा है कि विषम आय शुभ एवं सम आय शोक, दुःखद होता है एवं गृह तथा गृहस्वामी का नक्षत्र एक होने पर मृत्यु का भय होता है।[2] एक अन्य मत के द्वारा तारा फल पर विचार करते हुए कहा गया है कि गृह निर्माण करते समय अथवा गृह पिण्ड वाला नक्षत्र विपत् तारा का हो तो विपत्ति आती है, प्रत्यरि में प्रतिकूला (विपरीतता, शत्रुभय तथा निधन तारा में मृत्यु भय होता है।[3] विपत्, प्रत्यरि निधन तारा के नक्षत्रों में गृहारम्भ या पिण्ड का निर्माण नहीं होना चाहिए। अज्ञानता अथवा मोहवश उपर्युक्त दुष्ट तारा के नक्षत्रों में गृहारम्भ एवं पिण्डादि निर्माण करने पर दुःख व व्याधि का भय होता है।[4]

राशिकूटादि पर विचार अभिव्यक्ति करते हुए वास्तुसौख्यम्कार ने कहा है कि राशिकूटादि (नक्षत्र-मेलापक) का दम्पतियों की भाँति विचार करना चाहिए। द्विर्द्वादश भकूट में निर्धनता, नवपंचम में अपत्यहानि, षडष्टक में मृत्यु होती है, इसके विपरीत

1. शक्राहतं क्षेत्रफलं त्रिंशद्भक्तावशेषकम्।
प्रतिपदादितिथिर्ज्ञेया दर्शरिक्तां विवर्जयेत्।। वा० सौ० 146
2. विषमायः शुभश्चैव समायः शोकदुःखदः।
गृहस्य तत्पतेस्त्वेकं धिष्ण्यं चेन्निधनप्रदम्।। वा० सौ०
3. विपत्प्रदा विपत्तारा प्रत्यरिः प्रतिकूलता।
निधनाख्या तु या तारा सर्वथा निधनप्रदा।। वा० सौ० 163-164
4. विवजर्य तारकास्त्वेता निर्माणाय शुभं भवेत्।
कुर्वन्नज्ञानतो मोहाद् दुःखभाग् व्याधिभाग्भवेत्।। वा० सौ० श

भकूट शुभ होता है। सभी बलाबल तथा गणना गृह-नक्षत्र एवं गृह-स्वामी के नक्षत्र से देखनी चाहिए, किन्तु नाड़ी विवाह के विपरीत शुभ होती है। अर्थात् गृह एवं गृह-स्वामी के राशिकूट (गणना) में एक नाड़ी प्रशस्त मानी गई है।[1] सेवक-स्वामी, गृह-गृहस्वामी, परस्पर दो मित्रों में एक नाड़ी शुभ मानी गई है तथा एक नक्षत्र में जन्म लेने वालों का परस्पर प्रेम होता हैं, परन्तु दम्पति में स्त्री जाति शत्रु हो जाती है।[2] पिण्डादि साधन में दिनों का विचार करते हुए कहा गया है कि पिण्ड साधनादि गृह के समस्त कार्यों में सूर्य, मंगल का दिन एवं अंशादि अग्निभय देता है और अन्य ग्रहों के दिनादि अभीष्ट फल देते हैं।[3]

वास्तुसौख्यम् में ग्रह के अनुसार वास्तु पर विचार करते हुए अभिव्यक्त करते हुए कहा गया है कि ग्रहपीठ के अनुसार सूर्य नक्षत्र से प्रारम्भ कर चन्द्र नक्षत्र तक की 3-3 संख्या मध्यकोष्ठ से प्रारम्भ कर पूर्वादि दिशा क्रम से विभाजित करके नव कोष्ठों में बांट देना चाहिए यदि चन्द्र नक्षत्र अर्थात् मुहूर्त्त का नक्षत्र गृहपीठ के अनुसार पापग्रह के कोष्ठ में पड़ जाए तो उसमें गृहारम्भ एवं स्तम्भों का रोपण शुभ नहीं है। इसमें गणना मध्यपूर्वादि क्रम से होती है।[4]

**।। ग्रह-पीठ चक्रम्।।**

| | | |
|---|---|---|
| बुध 3 | शुक्र 3 | चन्द्र 3 |
| गुरू 3 | सूर्य 3 | मङ्गल 3 |
| केतु 3 | शनि 3 | राहु 3 |

वास्तुसौख्यम्कार ने गृह प्रवेश में ग्रह-नक्षत्र के फल का विवेचन करते हुए

---

1. राशिकूटादिकं सर्वं दम्पत्योरिव चिन्तयेत्।
नैस्व्यं द्विर्द्वादश नूनं त्रिकोणे त्वनपत्यता।।
षष्ठाष्टके नैधनं स्यात् व्यत्यये मध्यमं स्मृतम्।
परेषु शुभदं ज्ञेयं सर्वं तत्कर्तृराशितः।। वा० सौ० ८-167
2. एकनक्षत्रजातानां परेषां प्रीतिरूतमा।
परस्परं च दम्पत्योः कलत्रन्तु रिपुर्भवेत्।। वा० सौ० 169
3. सूर्यावारराश्यंशाः सदा वह्निभयप्रदाः।
शेषग्रहाणां राश्यंशाः कर्तुरिष्टार्थ सिद्धिदाः।। वा० सौ० 170
4. सूर्यर्क्षतो मध्यपदक्रमेण पीठं ग्रहाणां गुणतः क्रमेण।
पापस्थले स्तम्भनिवेशनन्तु विद्वान्नकुर्यादिह वास्तुकाले।। वा० सौ० 101

कहा है कि सूर्य के नक्षत्र से चन्द्र-नक्षत्र तक ही संख्या का फल गृह प्रवेश चक्र से स्पष्ट हो जायेगा। शुभ फलवाले नक्षत्र में यह प्रवेश शुभ होता है।[1]

**।। सूर्य-नक्षत्र से प्रवेश चक्र।।**

| स्थान | मुख | पूर्व | दक्षिण | पश्चिम | उत्तर | मध्य | अधस्थ | कण्ठ |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नक्षत्र संख्या | 1 | 4 | 4 | 4 | 4 | 4 | 3 | 3 |
| फल | मति | चंचलता | धन | श्री | वैर | शोक | स्थिरता | सुख |

अत: सार रूप से कहा जाता सकता है कि ग्रह न केवल हमारे दैनिक जीवन को प्रभावित करते हैं अपितु हमारे आस-पास के वातावरण पर भी उनका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसलिए वास्तु कर्म में ग्रहों की स्थिति पर विचार करके कार्य प्रारम्भ करना चाहिए क्योंकि ग्रहों की अशुभता मनुष्य के लिए पीड़ादायक मानी जाती है। मनुष्य को प्रत्येक कार्य में ज्योतिष के आधार पर काल का अवगमन कर एवं ग्रहों की दशा का विचार करके वास्तु के कार्य को प्रारम्भ करना चाहिए। ग्रहों के अतिरिक्त तिथि, योग, वार एवं नक्षत्र की भी शुभाशुभता का विचार अनिवार्य करना चाहिए ताकि नूतन गृह में जीवन सुखदायक बना रहा एवं लक्ष्मी की भी कृपा बनी रहनी चाहिए, जिससे मनुष्य अपने मनोरथों को पूर्ण कर सकता है।

• • •

1. भूर्वेदपञ्चकं त्रिस्त्रिः प्रवेशे कलशेऽर्कभात्।
मृतिर्गतिर्धनं श्रीः स्याद्वैरं शुक् स्थिरता मुखम्।। वा० सौ० 102

# 5
# गृह भेद एवं प्रमाण विवेचन

प्राचीन वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में शाला की संख्या के आधार पर गृह के विभिन्न भेदों का वर्णन किया है। आधुनिक भाषा में शाला एक लम्बा निवेश है जिसे बड़ा कमरा या हाल कह सकते हैं। यदि गृह में एक ही ओर शाला का विन्यास हो तो एकशाल गृह कहलाता है। दो ओर शाला से युक्त द्विशाल, तीन शाल से युक्त त्रिशाल तथा चारों ओर शाला से युक्त गृह चतु:शाल गृह कहलाता है। शाला गृहों के मुख्य यही प्रकार प्रसिद्ध हैं। इन्हीं चारों के द्वारों आगे छ: प्रकार जैसे - पञ्चशाल, षट्शाल, सप्तशाल, अष्टशाल, नवशाल तथा दशशाल गृहों की संयोजना होती हैं इन सभी के अपने-अपने पृथक्-पृथक् प्रकार के प्रभेद भी होते हैं।[1] पुराणों में शाखा शब्द से शाला की उत्पत्ति मानी गई है।[2] मानसार ने शाला शब्द को गृह एवं देवालय दोनों का वाचक माना है।[3] वास्तुसौख्यम् में शाला का अर्थ आच्छादन युक्त गृह का भीतरी भाग कहा है।[4] गृह-प्रकल्पन में इन शाखाओं की संख्या कई हो सकती है किन्तु मूलत: गृह में एक शाल से चार शालाएँ होती हैं। इन्हीं शालाओं के योग से अन्य शालाएँ निष्पन्न होती हैं। भोज ने एक आच्छादन से युक्त गृह को एक-शाल संज्ञक कहा है।[5] स्पष्ट है कि शाल गृह के दस प्रकार हैं। इनमें प्रथम चार मौलिक

---

1. स० सू० भ० नि० भूमिका, पृ० 42-43
2. सुराणां भूसुराणां च वर्णानां वासयोग्यकम्।
   सर्वासामपि शालानां लक्षणं वक्ष्यतेऽधुना।।
3. क. एवं प्रसिद्धा: शाखाभ्य: शालाश्चैव गृहानि च।
   तस्मात् ता वै स्मृता: शाला शालात्वं चैव तासु तत्।। वायु पुराण 8/126
   ख. गृहकारा यथापूर्वे तेषामासन् महीरूहा:।
   तथा संस्मृत्य तत्सर्वं चक्रे वेश्मनि ता: पुन:।। मार्कण्डेय पुराण 49/52
4. शालाशब्देन गृहाभ्यन्तमुच्यते। वा० सौ०, पृ० 29
5. एकछालमेकछन्नेन गृहमुच्यते। स० सू० 18/19

हैं। नारद पुराण में छः प्रकार के शाला गृहों का उल्लेख मिलता है। इन सबके पृथक्-पृथक् 16 भेद माने जाते हैं।[1]

## चतु:शाल गृह

चार शालों से युक्त गृह को चतु:शाल कहा जाता है। समराङ्गसूत्रधार में इसके अनेक भेद प्रभेदों का वर्णन प्रस्तुत किया है।[2] अग्नि पुराण में राजमहल को चतु:शाल, त्रिशाल, द्विशाल अथवा एकशाल बनाने का निर्देश दिया गया है।[3] मत्स्यपुराण, बृहत्संहिता एवं वास्तुसौख्यम् में चतु:शाल गृहों के प्रमुख पाँच भेदों का वर्णन उनके फल सहित प्राप्त होता है। ये पाँच चतु:शाला गृह है- (1) सर्वतोभद्रम्, (2) नन्द्यावर्त, (3) वर्धमान, (4) स्वस्तिक, (5) रूचक। इन चतु:शाला गृहों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत हैं-

**सर्वतोभद्रम्** - मत्स्यपुराण में चारों ओर द्वार तथा चौखटों से युक्त और चारों ओर एक ही प्रकार का बना हुआ भवन सर्वतोभद्रनामक चतु:शाल गृह कहा गया है।[4] इसी मत का समर्थन करते हुए गर्ग ने अविच्छिन्न चारों दिशा में अलिन्द व चारों द्वारों से युक्त चतु:शाल भवन सर्वतोभद्र संज्ञक कहा है।[5] अलिन्द शब्द का अर्थ वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में बरामदा अर्थात् कक्ष की भित्ति के बाहर आने-जाने का मार्ग, जिसके ऊपर छाद्य हो[6] बताया गया है। अमरकोश[7] तथा समराङ्गणसूत्रधार[8] में भी इसे गृह का बाह्य भाग माना गया है। वास्तुसौख्यकार ने बृहत्संहिता के मत को उद्धृत करते हुए कहा है कि जिस गृह की चारों दिशा में शाला व द्वार हो उसे

---

1. नारद पुराण पर्व 2, 56, 580
2. स० सू० भ० नि०, अ० 23
3. चतु:शालं त्रिशालं वा द्विशालं चैकशालकम्। अ० पु० 106/20
4. चतु:शाल चतु:र्द्वारैरलिन्दै सर्वतोमुखम्।
नाम्नं तत्सर्वतोभद्रं शुभं देवनृपालये।। म० पु० 254/1-2
5. अलिन्दाना व्यवच्छेदो नास्ति यत्र समन्ततः।
तद्वास्तु सर्वतोभद्रं चतुर्द्वारसमायुतम्।। गर्गः बृ० सं० 53/31
6. An Encyclopedia of Hindu Architecture.
7. प्रघाणप्रघणालिन्दा बहिद्वारं प्रकोष्ठके। अ० को० 2/2/12
8. शालाग्रे वलभी या स्याद् अलिन्देति वदन्ति ताम्। स० सू० 18/23

सर्वतोभद्र कहते हैं। ऐसा राजा व देवसमूहों के निवास के लिए गृह-निर्माण होना चाहिए। इसकी परिक्रमा बिना किसी अवरोध से की जा सकती है।[1]

**नन्द्यावर्त** - मत्स्यपुराण के अनुसार जिस चतु:शाल भवन में पश्चिम द्वार न हो उसे नन्द्यावर्त कहते हैं।[2] बृहत्संहिता में गर्ग के मत का उल्लेख करते हुए कहा गया हैं कि पश्चिम दिशा को छोड़कर शेष तीनों दिशाओं में द्वार होने चाहिए।[3] वास्तुसौख्यम् में नन्द्यावर्त का विवेचन करते हुए कहा गया है कि जिस शाला की भित्ति प्रारम्भ करके जिसके चारों दिशाओं में सावरोध अलिन्द हो उसे नन्द्यावर्त कहते हैं। जिसके पश्चिम छोड़ शेष तीनों दिशाओं में द्वार होते है।[4]

**वर्धमान** - दक्षिण दिशा के द्वार से रहित गृह को वर्धमान कहते है।[5] गर्ग का भी यही मत है।[6] समराङ्गणसूत्रधार में भी वर्धमान नामक एक चतु:शाल गृह का उल्लेख प्राप्त होता है। इसके अनुसार पहली, तीसरी, पाँचवी, छठी, मूषाएँ जहाँ पर हों उसको वर्धमानक कहते हैं और उसका पूर्व, पश्चिम और उत्तर द्वार चारों वर्णों के लिए वृद्धि दायक कहा गया है।[7]

**स्वस्तिक** - भोज ने चतुभद्र चतु:शाल के भेद के रूप में स्वस्तिक संज्ञक गृह का उल्लेख किया है। इनके अनुसार जिस गृह की प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ तथा सप्तम मूषाएँ जहाँ पर हो उसका नाम स्वस्तिक है। उसका द्वार पूर्व, पश्चिम, अथवा उत्तर दिशा में होना चाहिए। यह भवन चारों वर्णों के लिए प्रशस्त माना गया है।[8] मत्स्य

---

1. अप्रतिपिद्धालिन्दं समन्ततो वास्तु सर्वतोभद्रम्।
नृपविबुधसमूहानां कार्यं द्वौरश्चतुर्भिरपि।। वा० सौ० 210
2. पश्चिमद्वारहीनं च नन्द्यावर्त प्रचक्षते। म० पु० 254/2
3. प्रदक्षिणां गतैः सर्वैः शालाभित्तेरलिन्दकैः।
विना परेण द्वारेण नन्द्यावर्तमिति स्मृतम्।। बृ० सं० 53/32
4. नन्द्यावर्तमलिन्द्यैः शाला कुड्यात्प्रदक्षिणान्तगतैः।
द्वारं पश्चिममस्मिन् विहाय शेषाणि कर्याणि।। वा० सौ० 211
5. दक्षिणद्वारहीनं तु वर्धमानमुदाहृतम्। म० पु० 254/3
6. द्वारालिन्दोऽन्तगतस्तेषां ये त्रयो दक्षिणां गताः।
विहाय दक्षिणं द्वारं वर्धमानमिति स्मृतम्।। वृ० स० 53/33
7. एकत्रिपञ्चषष्ठ्यः स्युर्यत्र तद्वर्धमानकम्।
प्राक्पश्चिमोत्तरद्वारं चातुर्वर्ण्यस्य वृद्धिदम्।। स० सू० भ० नि० 24/133
8. आद्याद्वितुर्यासप्तम्यो यत्र तत्र स्वस्तिकं स्मृतम्।
प्राक्पश्चिमोत्तरद्वारं शस्तं सर्वगुणान्वितम्।। स० सू० भ० नि० 24/139-140

पुराण में पूर्व दिशा से रहित वास्तु को स्वस्तिक कहते हैं।[1] वास्तुसौख्यम् में कहा गया है कि पूर्व और पश्चिम के अन्तर्गत 1, 2 दक्षिणोत्तर और उत्तर-दक्षिण में पूर्व-पश्चिम शाला से संलग्न 3, 4 अंक से अंकित अलिन्द तथा पूर्व द्वार से युक्त स्वस्तिक नाम का वास्तु होगा।[2]

**रूचक** - मत्स्य पुराण में उत्तर दिशा से रहित द्वार के गृह को रूचक कहा गया है।[3] समराङ्गणसूत्रधार में सकल मनोरथ को पूर्ण करने वाला रूचक नामक गृह का वर्णन किया गया है। इसे पहली, दूसरी, पाँचवीं और छठी मूषा से युक्त तथा दक्षिण एवं पूर्व दिशा में द्वार वाला कहा गया है।[4] वास्तुसौख्यम्कार ने उल्लेख करते हुए कहा है कि जिस वास्तु में पूर्व व पश्चिम में दो (एक-एक) अलिन्द तथा शेष दो अलिन्द मध्य में, पूर्व पश्चिम के अलिन्दों से संयुक्त हो तथा उत्तर दिशा के अतिरिक्त अन्य तीन दिशाओं में द्वार से सम्पन्न गृह रूचक कहलाता है।[5]

इन पाँच प्रकार के चतु:शाल भवनों के लक्षणों के वर्णन के पश्चात् वास्तुसौख्यम् में इनके फल का कथन कहते हुए कहा गया है कि सभी वर्णों के लिए चतु:शाल, नन्द्यावर्त तथा वर्धमान वास्तु शुभ हैं। स्वस्तिक व रूचक मध्यम फलदायी हैं। शेष सर्वतोभद्र व चतु:शाल वास्तु राजा, मन्त्री, राज्यकर्मचारी व देवताओं के लिए शुभ हैं।[6]

## त्रिशाल गृह

जिस गृह की तीन दिशाओं में शालाओं का निर्माण हो तथा एक दिशा में न हो उसे त्रिशाल भवन कहा जाता हैं वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में त्रिशाल गृहों के 41 भेदों का लक्षणों सहित वर्णन मिलता है।[7] अग्नि पुराण में भी त्रिशाल गृहों को चार प्रकार का

1. पूर्वद्वार विहीनं तत्स्वास्तिकं ना विश्रुतम्। म० पु० 254/3
2. अपरोऽन्तगतोऽलिन्दः प्रागन्तगतौ तदुत्थितौ चान्यौ।
   तदवधिविधृतश्चान्यः प्राग्द्वारं स्वस्तिके शुभदम्।। वा० सौ० 213
3. रूचकं चोत्तरद्वारहीनं तत्प्रचक्षते। म० पु० 254/4
4. आद्याद्वितीयापञ्चम्यो यत्र षष्ठी च तद् भवेत्।
   रूचकं नाम याम्यप्रागद्वारं सकलकामदम्।। स० सू० भ० नि० 24/132-133
5. प्राक्पश्चिमावलिन्दावन्तगतौ तदवधिस्थितौ शेषौ।
   रूचके द्वारं न शुभदमुत्तरोऽन्यानि शस्तानि।। वा० सौ० 214
6. श्रेष्ठं नन्द्यावर्तं सर्वेषां वर्धमानसंज्ञं च।
   स्वस्तिकरूचके मध्ये शेषं शुभदं नृपादीनाम्।। वा० सौ० 215
7. रा० व० म० 7/11-26

माना गया है।[1] मत्स्यपुराण[2], समराङ्गणसूत्रधार[3], वास्तुसौख्यम्[4], विश्वकर्मप्रकाश[5] आदि में भी त्रिशाल गृहों का वर्णन मिलता है। ये चार हैं – धान्यक, सुक्षेत्र, विशाल तथा पक्षघ्न। इनका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है–

**हिरण्यनाभ** – जिस भवन के उत्तर दिशा की ओर दीवार हो अर्थात् उत्तरशाला से हीन गृह को हिरण्यनाभ कहते हैं। बृहत्संहिता[6] के अनुसार यह गृह प्रशस्त, समराङ्गणसूत्रधार[7] के अनुसार स्वामी के लिए धनप्रद तथा मत्स्यपुराण[8] ने इसे सर्वसाधारण मनुष्यों के लिए कल्याण एवं वृद्धि करने वाला एवं अनेक पुत्रादि को देने वाला कहा है।

**सुक्षेत्र** – पूर्व दिशा की शाला से रहित गृह को सुक्षेत्र कहा गया है। समराङ्गणसूत्रधार[9] में यह गृह स्वामी के लिए ऋद्धि एवं वृद्धिदायक कहा गया है। मत्स्यपुराण[10] के अनुसार सुक्षेत्र वास्तु धन, यश, दीर्घायु को देने वाला तथा शोक एवं मोह का विनाशक होता है। वास्तुसौख्यम्[11] में भी इसे धन पुत्रादि की वृद्धि करने वाला कहा गया है।

**चुल्ली** – दक्षिण दिशा की शाला से हीन गृह को समराङ्गणसूत्रधार एवं वृहत्संहिता में धन का नाश करने वाला कहा गया है।[12] मत्स्यपुराण के अनुसार यह चुल्ली

---

1. त्रिशालानि तु चत्वारि ..........। अ० पु० 106/21
2. म० पु० 254/4-8
3. स० सू० भ० नि०, अ० 26
4. उत्तरशालाहीनं हिरण्यनाभं त्रिशालकं धन्यम्। वा० सौ० 216
5. वि० प्र० 3/186-189
6. उत्तरशालाहीनं हिरण्यनाभं त्रिशालकं धन्यम्। बृ० स० 53/37
7. हिरण्यनाभमुत्कृष्टं हीनमुत्तरशालया।
   तत् स्याद् धनप्रदं ........... ।। स० सू० भ० नि० 26/3
8. सौम्यशालाविहीनं यत्रिशालं धान्यकं चतत्।
   क्षेमवृद्धिकरं नृणां बहुपुत्रफलप्रदम्।। म० पु० 254/4-5
9. ....... सुक्षेत्रं पूर्वया विना।
   सुक्षेत्रं लक्षणोपेतमृद्धिवृद्धिप्रदं विभोः।। स० सू० भ० नि० 26/3-4
10. शालया पूर्वया हीनं सुक्षेत्रमिति विश्रुतम्।
    धन्यं यशस्ममायुष्यं शोकमोहविनाशनम्।। म० पु० 254/5-6
11. प्राक्शालया वियुक्तं सुक्षेत्रं वृद्धिदं वास्तु। वा० सौ०, पृ० 81
12. चुल्ली दक्षिणया हीना शालया वित्तनाशिनी। स० सू० भ० नि० 26/4

संज्ञक त्रिशाल गृह मनुष्यों के कुल का नाश करने वाला तथा सभी प्रकार की व्याधि एवं भय को देने वाला होता है।[1] वास्तुसौख्यम् में भी इसे धन का नाशक कहा गया है।[2]

**पक्षघ्न** – पश्चिम दिशा में जिस भवन के शाला न हो उसे पक्षघ्न गृह कहते हैं। समराङ्गणसूत्रधार में इसे कुलनाशकारी एवं वैर बढ़ाने वाला[3] तथा मत्स्य पुराण में इसे मित्र, बंधु एवं पुत्रों का नाशक तथा सब प्रकार के भय का देने वाला कहा गया है।[4] वास्तुसौख्यम् में भी इसे पुत्र हानि तथा वैर कराने वाला माना है।[5]

**द्विशाल गृह** – दो शालाओं से युक्त घर को द्विशाल भवन कहा गया है। इनकी संख्या एवं भेदों के सन्दर्भ में विभिन्न वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों का भिन्न-भिन्न मत है। अग्नि पुराण में द्विशाल गृहों के पाँच भेदों का संकेत मिलता है।[6] द्विशाल गृहों का सविस्तार विवेचन मत्स्यपुराण[7] समराङ्गणसूत्रधार[8], राजवल्लभमण्डनम्[9], वास्तुमण्डनम्[10] एवं वास्तुसौख्यम्[11] आदि प्रभृति ग्रन्थों में प्राप्त होता है। सबने इनके भेदों प्रभेदों की संख्या भिन्न मानी है। वृहत्संहिता में द्विशाल भवनों में छः भेदों का वर्णन किया है। वास्तुसौख्यम्कार के अनुसार द्विशाल गृहों के छः भेद है - सिद्धार्थ, यमशूर्प दण्ड, वात, गृह चुल्ली तथा काच। इन द्विशाल भवनों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत यहा है -

**सिद्धार्थ** – वराहमिहिर ने भी सिद्धार्थ गृह को धन की प्राप्ति कराने वाला कहा

---

1. शालया याम्यया हीनं यद्विशालं तु शालया।
   कुलक्षयकरं नृणां सर्वव्याधिभयावहम्।। म० पु० 254/6-7
2. याम्याहीनं चुल्ली त्रिशालकं वित्तनाशकरमेतत्। वा० सौ० पृ० 81
3. पक्षध्नं पश्चिमाहीनं वैरकृतं कुलनाशनम्। स० सू० भ० नि० 26/5
4. हीनं पश्चिमया यत्तु पक्षध्नं नाम तत्पुनः।
   मित्रबंधुसन्तान्हन्ति तथासर्वभयावहम्।। म० पु० 254/7-8
5. पक्षध्नमपरया वर्जितं सुतध्वंसवैरकरम्। वा० सौ० 217
6. .......... द्विशालानि तु पञ्चधा। अ० पु० 106/21
7. म० पु० 254/8-14
8. स० सू० भ० नि०, अध्याय 27
9. रा० व० म० 6/17-35, 7/1-10
10. वा० म० 6/11-16
11. वा० सौ०, पृ० 81

है।[1] मत्स्यपुराण में इसे धन धान्यादि का देने वाला एवं सर्वसाधारण के लिए कल्याण, वृद्धि एवं पुत्रप्रद कहा है।[2] समराङ्गणसूत्रधार में हस्तिनी (दक्षिण) और महिषी (पश्चिम) शालाओं से युक्त द्विशाल को सिद्धार्थ गृह कहा है।[3] वास्तुसौख्यम् में पश्चिम और दक्षिण शाला से युक्त गृह को सिद्धार्थ कहा है।[4]

**यमशूर्प** - पश्चिम और उत्तर दिशाओं की शालाओं से युक्त भवन को यमशूर्प कहा है।[5] मत्स्यपुराण में इसे राजा एवं अग्नि से भय पहुँचाने वाला तथा कुलक्षयकारक कहा है।[6] राजवल्लभमण्डन[7] तथा समराङ्गणसूत्रधार[8] में गावी (उत्तर) और महिषी (पश्चिम) शालाओं से युक्त यमशूर्प नामक द्विशाल गृह को मृत्यु का कारक कहा है।

**दण्ड** - उत्तर और पूर्व दिशा की शालाओं से युक्त द्विशाल गृह दण्ड संज्ञक कहा गया है।[9] मत्स्यपुराण में इसे अकालमृत्यु का भय देने वाला एवं शत्रुपक्ष से हानि पहुँचाने वाला कहा गया है।[10] भोज ने पूर्व तथा उत्तर शालाओं से युक्त गृह को दण्ड भय देने वाला एवं धननाशक कहा है।[11]

**वात** - भोज ने हस्तिनी (दक्षिण) और छागली (पूर्व) शालाओं से युक्त गृह वात कहा है।[12] मत्स्यपुराण में इस द्विशाल भवन को धानक्य कहा है तथा इसे

1. सिद्धार्थऽर्थवाप्ति .......। बृ० सं० 53/40
2. याम्यापराभ्यां शालाभ्यां धनधान्य फलप्रदम्।
   क्षेमवृद्धिकर नृणां सर्वव्याधिकभयावहम्।। म० पु० 254/8-9
3. हस्तिनी महिषी चेति द्वे शाले यत्र वेश्मनि।
   तत् सिद्धार्थकमिति ज्ञेयं वित्तसम्पत्तिकारकम्।। स० सू० भ० नि० 27/7
4. सिद्धार्थमपरयाम्ये यमशूर्पं पश्चिमोत्तरे शाले। वा० सौ०, पृ० 81
5. शमशूर्पं पश्चिमोत्तरे शाले। बृ० सं० 53/39
6. यमसूर्यं च विज्ञेयं पश्चिोमत्तर शालकम्।
   राजग्निं भयदां नृणां कुलक्षयकरं च यम्।। म० पु० 254/9-10
7. गवी महिषसंज्ञकं मृतिकरं तद्यामसूर्यं भवेत्। रा० व० म० 6/19
8. स० सू० भ० नि० 27/9
9. दण्डाख्यमुदकपूर्वे .......। बृ० सं० 53/39
10. उदकपूर्वे शाले द्वे दण्डाख्ये यत्र तद्भवेत्।
    अकालमृत्युभयदं पर चक्रभयावहम्।। म० पु० 254/10-11
11. स० सू० भ० नि० 27/8
12. वातं करेणुच्छगली युक्तमुद्वेगकारकम्। स० सू० भ० नि० 27/9

सर्वसाधारण को शस्त्र भय तथा शत्रु से पराजित कराने वाला कहा है।[1] वास्तुसौख्यम् में इस पूर्व तथा दक्षिण के द्विशाल गृह को वात कहते हैं। इसमें सर्वदा कलह व शोक तथा उद्विग्नचित्त रहता है।[2]

**गृह चुल्ली** - समराङ्गणसूत्रधार में महिषी (पश्चिम) और अजा अर्थात् छागी (पूर्व) की शालाओं से युक्त चुल्ली गृह को धन का अपहरण उपस्थित करने वाला तथा उद्वेग उत्पन्न करने वाला कहा है।[3] मत्स्य पुराण में इस गृह को गृहस्वामी की मृत्यु की सूचना देने वाला, स्त्रियों को विधवा करने वाला तथा अनेक प्रकार के भय पहुँचाने वाला कहा है।[4] वास्तुसौख्यम् में इसे धन का नाशक कहा गया है।[5]

**काच** - भोज ने करिणी और गावी शालाओं से युक्त गृह को मित्र प्रीति का विनाश करने वाला कहा गया है।[6] मत्स्यपुराण ने इस भवन को सर्वसाधारण को भय पहुँचाने वाला कहा गया है।[7] राजवल्लभमण्डन[8] ने दक्षिण और पूर्व शालाओं से युक्त गृह काच संज्ञक कहा है। वास्तुसौख्यम् में दक्षिणोत्तर का द्विशाल गृह काच शब्द से प्रयुक्त होता है, इसमें बान्धवों से वैर होता है।[9]

## एकशाल गृह

जिस गृह में केवल एक ही शाला अर्थात् कक्ष हो उसे एकशाल गृह कहते है। एकशाल गृह के विभिन्न भेदों का वर्णन विभिन्न वास्तुशास्त्रीय एवं ज्योतिष ग्रन्थों में प्राप्त होता है। मयमतम् में एकशाल गृह के सामान्य लक्षण का वर्णन करते हुए इसे देवों, ब्राह्मणों आदि वर्णों पाखण्डियों (नास्तिकों) आश्रमवासियों, गज, अश्व, रथ के योद्धाओं, याग होम आदि करने वालों तथा रूप के द्वारा अजीविका चलाने वाली

1. धनाख्यं पूर्वयाम्याभ्यां शालाभ्यां यद्विशालकम्।
   तच्छस्त्रभयदं नृणां पराभवभयावहम्।। म० पु० 254/12-13
2. ....... वाताख्यं प्राग्युता याम्या। वा० सौ० 218
3. स० सू० भ० नि० 27/18-19
4. चुल्ली पूर्वपराभ्यां तु सा भवेन्मृत्यु सूचनी।
   वैधव्यदायकं स्त्रीणामनेकभयकारकम्।। म० पु० 254/12-13
5. पूर्वापरे तु शाले गृहचुल्ली .......। वा० सौ० 219
6. काचं करेणु गावीभ्यां सुहृत्प्रीतिविनाशनम्। स० सू० भ० नि० 27/10
7. कार्यमुत्तरं याम्याभ्यां शालाभ्यां भयदं नृणाम्। म० पु० 254/13
8. रा० व० म० 6/19
9. ...... दक्षिणोत्तरे काचम्। वा० सौ० 219

स्त्रियों के निवासार्थ प्रशस्त माना गया है।[1] वास्तुसौख्यम्कार ने एकशाल गृह के सोलह भेदों का उल्लेख किया है। ये सोलह गृह हैं[2] - ध्रुवं, धान्यं, जयं, नन्दं, खरं, कान्तं, मनोरम्, सुमुख, दुर्मुख, क्रूर, पक्ष, धनद, क्षय, आक्रान्द, विपुल और विजय।

इस प्रकार प्रायः सभी वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में केवल इन्हीं चार प्रकार के भवनों का उल्लेख प्राप्त होता है।

## ब्राह्मणादि वर्णों का गृह-प्रमाण निरूपण

वास्तुशास्त्र में गृह की निवेश व्यवस्था का अत्यन्त सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है। वास्तुशास्त्र में विभिन्न जातियों एवं व्यवसाय जीवियों के आवासीय गृहों का उल्लेख किया गया है। यहाँ पर चार वर्णों के गृहों का विवेचन किया जा रहा है। ब्राह्मणादि चारों वर्णों के भवनों के प्रमाणों का निर्देशन विभिन्न वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों यथा बृहत्संहिता[3], किरणाख्यतन्त्र[4], मत्स्यपुराण[5], राजवल्लभमण्डन[6], एवं गृहवास्तुप्रदीप[7]

---

1. तैतलानां द्विजादीनां पाषाण्डयाश्रमिणापि।
हस्त्यश्वरथयौधानां योगहौमादिशिल्पिनाम्।।
एकशाला प्रशस्ता स्यात् स्त्रीणां रूपोपजीविनाम्।
दण्डक मौलिक चैव स्वस्तिकं च चतुर्मुखम्।। म० म० 26/11
2. ध्रुवं धान्यं जयं नन्दं खरं कान्तं मनोरम्।
सुवक्त्रं दुर्मुखं क्रूरं विपक्षं धनदं क्षयम्।।
आक्रन्दं विपुलं संज्ञं षोडशं विजयाभिधाम।
इत्येकशलभेदाः स्युः शेषाणामेवमेव हि।। वा० सौ० 235-236
3. चातुर्वर्ण्यव्यासो द्वात्रिंशत सा चतुश्चतुर्हीना।
आषोऽशादिति परं न्यूनतरमतीवहीनानाम्।।
सदशांशं विप्राणां क्षत्रस्याष्टांशसंयुतं दैर्ध्यम्।
षड्भागयुतं वैश्यस्य भवति शूद्रस्य पादयुतम्।। बृ० स० 53/12
4. उद्धृतं वही, 53/12-13 (टीकाऋ
5. चतुर्वर्णस्य वक्ष्यामि सामान्यं गृहपञ्चकम्।
द्वात्रिंशतं कराणां तु चतिर्भिर्हीयते क्रमात्।।
आषोऽशादिति परं नूनमन्त्यादसायिनाम्।
दशांशेनाष्टभागेन त्रिभागेनाथ पादिकम्।।
अधिकं दैर्ध्यमित्याहु र्ब्राह्मणादेः प्रशस्यते। म० पु० 254/28-30
6. द्वात्रिंशतो मानमिदं द्विजादेर्हीनं चतुर्भिः क्रमतो विधेयम्।
दिगष्टरागाब्धिविभागतश्च क्रमेण तद्वर्णचतुष्टयेऽपि।। रा० व० म० 9/36
7. गृ० वा० प्र० 35

आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इन वर्णों के गृहों का अधिकतम विस्तार 32 हाथ तथा न्यूनतम विस्तार 16 हाथ कहा गया है। वर्णानुसार गृहों का प्रमाण इस प्रकार वर्णित हैं -

**1. ब्राह्मण** - वास्तुसौख्यम् के अनुसार ब्राह्मणों के उत्कृष्ट गृह का विस्तार 32 हाथ तथा मध्यमादि गृहों का विस्तार चार-चार हाथ कम करके क्रमश: 28, 24, 20, 16 हाथ होना चाहिए। ब्राह्मणों के गृहों का दैर्घ्य विस्तार से दशमांश अधिक रखने का निर्देश प्राप्त होता है। ब्राह्मणों के पञ्चविध गृहों के सम्बन्ध में बृहत्संहिता, मत्स्यपुराण, राजवल्लभमण्डन का भी यही मत है। वास्तुप्रदीप के अनुसार इन गृहों का दैर्घ्य (लम्बाई) विस्तार (चौड़ाई) से चतुर्थांश अधिक होनी चाहिए।

**।। ब्राहण गृह प्रमाण स्पष्टार्थ चक्र।।**

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| विस्तार हाथ | 32 | 28 | 24 | 20 | 16 |
| अंगल | 0 | | 0 | 0 | 0 |
| दीर्घ-हाथ | 35 | 30 | 26 | 22 | 17 |
| अंगुल | 4 | 19 | 9 | 0 | 14 |
| व्यंगुल | 48 | 12 | 36 | 0 | 24 |

**2. क्षत्रिय** - बृहत्संहिता, मत्स्यपुराण एवं वास्तुसौख्यम् में क्षत्रियों के चार प्रकार के गृह प्रमाणों का विवेचन कि‍ा गया है। इसके अनुसार क्षत्रिय के उत्तर गृह का विस्तार 28 हाथ तथा अन्य तीन भवनों का विस्तार चार-चार हस्त कम होना चाहिए। क्षत्रियों के गृहों का दैर्घ्य विस्तार से अष्टमांश अधिक कहा गया है। सूत्रधार मण्डन ने भी यही मत उद्‌धृत किया है। गृहवास्तुप्रदीप में कुछ पृथक्ता प्रतीत होती है। इसके अनुसार क्षत्रिय का गृह ब्राह्मण गृह से दशांश अधिक होना चाहिए।

**।। क्षत्रिय गृह प्रमाण स्पष्टार्थ चक्र।।**

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| विस्तार हाथ | 28 | 24 | 20 | 16 |
| अंगल | 0 | 0 | 0 | 0 |
| दीर्घ-हाथ | 31 | 27 | 22 | 18 |
| अंगुल | 12 | 0 | 12 | 0 |

**3. वैश्य** - वैश्यों के गृहों का प्रमाण बृहत्संहिता मत्स्यपुराण, वास्तुसौख्यम् आदि ग्रन्थों में वर्णित मिलता है। इनके अनुसार वैश्य के उत्तम गृह का विस्तार 24

हाथ होना चाहिए तथा दैर्घ्य षष्ठांश युक्त अर्थात् 28 अंगुल रखनी चाहिए। राजवल्लभमण्डन का भी यही मत है। गृहवास्तु के अनुसार वैश्य के गृह प्रमाण ब्राह्मण के गृह के छः भाग कम चौड़ा तथा गृह की लम्बाई विस्तार से अधिक होनी चाहिए।

**।। वैश्य गृह प्रमाण स्पष्टार्थ चक्र।।**

| | | | |
|---|---|---|---|
| विस्तार हाथ | 24 | 20 | 16 |
| अंगल | 0 | 0 | 0 |
| दीर्घ-हाथ | 28 | 23 | 18 |
| अंगुल | 0 | 8 | 16 |

**4. शूद्र** - शूद्रों के केवल दो गृहों का प्रमाण वास्तुसौख्यम् में वर्णित किया गया है। इसके अनुसार शूद्र के उत्तम गृह का विस्तार 20 हाथ तथा दीर्घता चतुर्थांश अधिक अर्थात् 25 अंश होनी चाहिए। द्वितीय गृह 16 हाथ चौड़ा तथा 20 हाथ लम्बाई से युक्त होनी चाहिए। राजवल्लभमण्डनम् एवं मत्स्यपुराण का भी यही मन्तव्य है। गृहवास्तुप्रदीप के अनुसार शूद्र का गृह वैश्य की भाँति ब्राह्मण के गृह से 6 भाग चौड़ा होना चाहिए तथा लम्बाई चौड़ाई से चतुर्थांश अधिक होनी चाहिए।

**।। शूद्र गृह प्रमाण स्पष्टार्थ चक्र।।**

| | | |
|---|---|---|
| विस्तार हाथ | 20 | 16 |
| अंगल | 0 | 0 |
| दीर्घ-हाथ | 25 | 20 |
| अंगुल | 0 | 0 |

अतः निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि मनुष्य को अपना भवन बनाने से पूर्व उसे यह विचार कर लेना चाहिए कि उसे कितनी शाला आधारित गृह का निर्माण करवाना है। उसको स्ववर्णानुसार गृह का प्रमाण ज्ञात कर गृहारम्भ करना चाहिए। क्योंकि इस प्रकार से कार्य करने से वास्तु दोष से मुक्त रहा जा सकता है एवं वास्तु नियमों पर आधारित गृह में सदा मंगल बना रहता है एवं गृहस्वामी चतुर्दिक उन्नति करने के साथ-साथ उत्तम वंश की भी प्राप्ति करता है।

• • •

# 6
# द्वार एवं द्वारवेध विवेचन

## द्वार एवं द्वारवेध निरूपण

द्वार गृह का एक प्रमुख अंग है। इसकी लम्बाई–चौड़ाई कितनी भी रख लें यह शास्त्र सम्मत नहीं है। वास्तुशास्त्र में प्राय: सभी ग्रन्थों में द्वार का एक निश्चित माप बताया गया है। घर का मुख्य द्वार किस दिशा में होना चाहिए इसका भी विस्तार पूर्वक विवेचन वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में किया है। प्राय: आजकल देखा जाता है कि लोग विभिन्न प्रकार के द्वारों का निर्माण अपने घर में करते हैं फिर भी गृह के द्वार को अच्छी लकड़ी का बनाना चाहिए। दो पल्लुओं का द्वार शुभ माना गया है। इस बात पर भी विशेष बल दिया गया है कि द्वार की दोनों दाएँ–बाएँ बाली शाखाएँ एक माप की होना चाहिए तथा पल्ली भी समान चौड़ाई व मोटाई के रखनी चाहिए। शास्त्रों में कहा गया है कि पल्लों में किसी भी प्रकार का जोड़ नहीं होना चाहिए। वर्णों के अनुसार भी मुख्य द्वार की दिशा का उचित उल्लेख वास्तु ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

## द्वार–प्रमाण निरूपण

ब्राह्मणादि चारों वर्णों के गृहों के प्रमाण का निर्देश करते हुए वराहमिहिर[1] ने कहा है कि ब्राह्मणादि के गृह के विस्तार के पंचमांश से युक्त अट्ठारह अंगुल में उसका अष्टमांश भी जोड़ने पर जो संख्या होगी, उतनी द्वार की चौड़ाई तथा चौड़ाई की त्रिगुणित द्वार की ऊँचाई होगी। वृहत्संहिता में द्वार प्रमाण की एक अन्य प्रक्रिया का भी वर्णन मिलता है कि जिस प्रकार दीवार की ऊँचाई का विचार चातुर्वर्ण्य को छोड़कर राजा, सेनापति, राजपुरोहित, युवराजादि समस्त गृहों में अलग किया गया है उसी तरह द्वार का भी विचार दो भागों में किया जाता है। चातुर्वर्ण्य के अतिरिक्त शेष सब घरों में दरवाज़े की ऊँचाई का सूत्र यह है। सम्पूर्ण चौड़ाई का ग्यारहवाँ भाग लें।

---

1. विप्रादीनां व्यासात् पञ्चांशोऽष्यदशाङ्गुल: समेत:।
साष्टांशो विष्कम्भो द्वारस्य त्रिगुण उच्छ्राय:।। वृ० सं० 53/25

उसमें ग्यारहवाँ भाग तथा सत्तहर हाथ और जोड़ लें। इस योगफल के बराबर अंगुलात्मक द्वार की ऊँचाई होनी चाहिए। दरवाज़े की चौड़ाई ऊँचाई की आधी होनी चाहिए।[1] वृहत्संहिता की टीका के अनुसार गृह की चौड़ाई का पञ्चमांश लेकर उसमें 18 अंगुल जोड़े। वह द्वार की चौड़ाई होगी। द्वार की ऊँचाई चौड़ाई की दो गुनी होनी चाहिए।[2] वृहत्संहिता में द्वार प्रमाण की एक ओर प्रक्रिया का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि गृह द्वार की ऊँचाई की अंगुलों को हस्तात्मक बना लें। ये जितने हाथ हों, उन्हें अंगुल मानें। इतने ही अंगुल मोटाई द्वार की चौखट की खड़ी पट्टियों या शाखाओं अथवा आजू बाजू के काष्ठ की होनी चाहिए। मोटाई को डेढ़ गुणा करने से देहली व ऊपर की चौड़ाई वाली द्वार शाखा अर्थात् पैर व सिर की ओर की दोनों शाखाओं की मोटाई होनी चाहिए।[3]

ब्राह्मण के गृह का व्यास 32 हाथ का पंचमांश स्वल्पान्तर से 6 हाथ हुआ, इसको 18 में जोड़ने पर 24 संख्या हुई इसमें 24 का अष्टमांश 3 जोड़ने पर 27 अंगुल ब्राह्मण के भवन के द्वार की चौड़ाई तथा त्रिगुणित करने (27 × 3 = 81) से 81 अंगुल द्वार की ऊँचाई होंगी। इस प्रकार चौड़ाई द्वार की 27 अंगुल सिद्ध होती है। जो अव्यवहारिक प्रतीत होती है। वास्तव में यहाँ पर द्वार की चौड़ाई में गृह की चौड़ाई भी जोड़नी होगी।[4] द्वार की शाखाओं की मोटाई का निर्देश मत्स्यपुराण में प्राप्त होता है। विद्वानों ने ऐसा नियम सभी वास्तुओं में बताया है। द्वार के ऊपर का उत्तमांग तथा नीचे की देहली (चौखट) शाखाओं से आधे अधिक मोटे अर्थात् ड्योढे मोटे होने चाहिए।[5] वास्तुसौख्यम् में गृह द्वार का प्रमाण यह है कि द्वार की चौड़ाई से दूनी द्वार

---

1. एकादशभागयुतः ससप्ततिर्निष्पबलेशयोर्व्यासः।
उच्छ्रायोऽङ्गुल द्वारस्यार्धेन विष्कम्भः।। वृ० सं० 52/24
2. गृह व्यासस्य पंचांशः साष्टादशभिरंगुलैः।
संयुक्तो द्वारविष्कम्भो द्विगुणश्चोच्छ्रयो भवेत्।। वृ० सं० 52/25 टीका
3. उच्छ्रायहस्तसंख्यापरिमाणान्यङ्गुलानि बाहुल्यम्।
शाखाद्वयेऽपि कार्यं सार्धं तत् स्यादुदुम्बरयोः।।
उच्छ्रायात् सप्तगुणादशीतिभागः पृथुत्वमेतेषाम्।
नवगुणितेऽशीत्यंशः स्तम्भस्य दशांशहीनोऽग्रे।। वृ० सं० 52/26-27
4. वि० वि० द्र० – वृ० सं० 53/24
5. द्वारशखासु बाहुल्यमुच्छ्रायकरसंमितैः।
अंगुलैः सर्ववास्तूनां पृथुत्वं शस्यते बुधैः।
उदुम्बरोत्तमाङ्गं च तदार्धार्धप्रविस्तरात्।। म० पु० 254/43-44

की ऊँचाई होनी चाहिए। समायत ही द्वार शुभ है, विषमायत शुभ नहीं है। आमने समाने, परस्पर के भुज तथा चारों कोण तुल्य हो, तो उसे समायत सम कोण कहते हैं। दक्षिण और पश्चिम में कपाट सुखदायी होता है। मात्र दक्षिण व पश्चिम दोनों दिशाओं में द्वार होने से गृह का नाम मनोरम होता है।[1] इस प्रकार प्राचीन वास्तु विशेषज्ञों के समान ही वास्तुसौख्यम्कार ने भी द्वार प्रमाण के विषय में अपने मत को स्पष्ट किया है।

### गृह द्वार दिशा निर्धारण

गृह का द्वार किस दिशा में रखना शुभकारक है? तथा किस दिशा में अशुभ? इस सन्दर्भ में विभिन्न वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न विचार मिलते हैं। वास्तुशास्त्र में गृह द्वार की दिशा का निर्णय विभिन्न आधारों पर किया गया है।

सूर्य की स्थिति के आधार पर गृह द्वार दिशा का कथन करते हुए श्रीपति[2] ने कहा है कि कर्क, सिंह, मकर, कुम्भ राशि के सूर्य में गृह का द्वार पूर्व अथवा पश्चिम मुख रखना चाहिए तथा मेष, वृष, तुला, एवं वृश्चिक राशि स्थित सूर्य के समय उत्तर एवं दक्षिणाभिमुखी गृह का निर्माणारम्भ शुभ फल देने वाला होता है। इसके विपरीत राशियों में स्थित सूर्य में मीन-धनु-मिथुन-कन्या में जो व्यक्ति गृहारम्भ करता है वह बुद्धिहीन रोग व शोक से युक्त होता है। इसी प्रसंग में वास्तुसौख्यम्कार ने जगन्मोहन[3] का मत अभिव्यक्त करते हुए स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि सिंह-मकर के सूर्य में पश्चिम, वृष-तुला के सूर्य में उत्तर, मेष-वृश्चिक के सूर्य में दक्षिण, कर्क-कुम्भ के सूर्य में पूर्व दिशा में गृह के द्वार का निर्माण शुभ है। इस प्रकार के नियमों के अनुसार विहित वेश्यमद्वार शुभ एवं सुखवर्द्धक होता है।

---

1. विस्ताराद् द्विगुणोत्सेधं द्वारं न विषमायतम्।
   पश्चिमे दक्षिणे वापि कपाटं च सुखपद्रम्।। वा० सौ० 330
2. कर्कनक्रहरिकुम्भगतेऽर्के पूर्वपश्चिममुखानि गृहाणि।
   मेषतौलिवृषवृश्चिकयाते दक्षिणोत्तरमुखान्यपि कुर्यात्।।
   अन्यथा यदि करोति दुर्मतिर्व्याधिशोकधननाशमश्नुते।
   मीनचापमिथुनगते सति कारयेन्न गृहमेव भास्करे।। वा० सौ० 391-392
3. सिंहे तु पश्चिमे द्वारं वृषभे चोत्तरं तथा।
   कुम्भे च पूर्वदिग्द्वारं वृश्चिके चैव दक्षिणे।।
   मकरे पश्चिमद्वारं तुलायां चोत्तरे तथा।
   कर्कटे पूर्वदिग्द्वारं मेषस्थे दक्षिणे रवौ।
   एवं कृते भवेद्वेश्य शोभनं सौख्यवर्द्धनम्।। वा० सौ० 394-395

गृह द्वार की दिशा का निर्णय सम्बन्धी अन्य मत भी प्राप्त होते हैं इनमें एक मतानुसार तिथि के अनुसार गृह के द्वार की दिशा बताई गई है। यदि गृह का आरम्भ पूर्णिमा से कृष्ण पक्ष की अष्टमी तक करें, तो गृह के द्वार का मुख पूर्व दिशा में नहीं होना चाहिए। कृष्ण पक्ष की नवमी से चतुर्दशी के मध्य गृहारम्भ होने पर उत्तर मुख गृह नहीं बनवाना चाहिए। अमावस्या से शुक्ल पक्ष की अष्टमी तक गृहारम्भ करने पर पश्चिम दिशा में एवं शुक्ल पक्ष की नवमी से चतुर्दशीपर्यंत गृहारम्भ करने पर दक्षिण दिशा में गृह का मुख्य द्वार नहीं रखना चाहिए।[1] चन्द्रमा तथा नक्षत्र के अनुसार भी गृह द्वार दिशा का निर्णय प्राप्त होता है इसके अनुसार कृत्तिका से प्रारम्भ करके 7-7 नक्षत्रों को क्रमशः पूर्वादि दिशाओं में रखना चाहिए। गृह का नक्षत्र एवं चन्द्रमा द्वार के पार्श्व में रहे इस प्रकार द्वार स्थापन करना चाहिए। गृह एवं चन्द्रमा का नक्षत्र गृह के अग्रभाग एवं पृष्ठभाग में हो तो गृह एवं गृहस्वामी दोनों नष्ट हो जाते हैं।[2]

मेषादि राशियों के वर्णों (ब्राह्मणादि) के अनुसार गृह द्वार का निर्देश करते हुए वास्तुमाणिक्यरत्नाकर[3] में कहा गया है कि ब्राह्मण राशि (कर्क, मीन, वृश्चिक) वालों का गृह पूर्व मुख, क्षत्रिय राशि (सिंह, मेष, धनु) का गृह उत्तर मुख, वैश्य राशि (कन्या, मकर, वृष) का गृह दक्षिणाभिमुख एवं शूद्र वर्ण की राशियों (मिथुन, कुम्भ, तुला) का गृह पश्चिमाभिमुख होना चाहिए।[4]

इनके अतिरिक्त गृह की आय के अनुसार भी गृहद्वार दिशा का वर्णन वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में प्राप्त होता है। यदि गृह की आय ध्वज हो तो गृहस्वामी की इच्छानुसार किसी भी दिशा में गृहद्वार निर्माण हो सकता है। सिंह आय होने पर पूर्व, दक्षिण, उत्तर तीन दिशाओं में द्वार निर्माण किया जा सकता है। वृष आय में गृह का द्वार पश्चिम

---

1. पूर्णादि त्वष्टमीं यावत् पूर्वास्यं वर्जयेद् गृहम्।
उत्तरस्यां न कुर्वीत नवम्यादिचतुर्दशीम्।।
अमावस्याष्टमीं यावत् पश्चिमास्ये विवर्जयेत्।
नवम्यादौ तथा याम्यां यावच्छुक्लचतुर्दशीम्।। गृ० प्र० भूमिका, पृ० 22
2. क्षपाकरे नैव गृहं पुरस्थे, कुर्यात् वसेत् तत्र न जातु कर्त्ता।
पतन्ति खन्यानि च पृष्ठसंस्थे, यत्नेन तस्मादिदमत्र चिन्त्यम्।। वा० सौ० 414
3. द्विजराशेर्गृहद्वारं पूर्वे भूपस्य चोत्तरे।
वैश्यराशेर्यममुखं शूद्रराशेस्तु पश्चिमे।। उद्धृतं गृ० प्र० भूमिका, पृ० 23
4. पूर्वे ब्राह्मणराशीनां वैश्यानां दक्षिण शुभम्।
शूद्राणां पश्चिमे द्वार नृपाणामुत्तरे भतम्।। वृ० वा०, पृ० 91

दिशा में तथा गज आय हो तो पूर्व और दक्षिण दिशा में मुख्य द्वार बनाना उत्तम होता है – तथा ब्राह्मण को ध्वज आय पश्चिम दिशा में द्वार बनवाना उत्तम होता है। क्षत्रिय को सिंह आय और उत्तर दिशा में द्वार एवं शूद्र को गज आय और दक्षिण दिशा में गृह का द्वार निर्मित करना उत्तम होता है।[1] वास्तुमाणिक्यरत्नाकर का भी यही मत है।[2]

वास्तुसौख्यम्कार ने भी वास्तु विशारदों के अनुसार ही अपने द्वार दिशा सम्बन्धी मत को व्यक्त करते हुए कहा है कि द्वार के सम्मुख बाहर का द्वार नहीं करना चाहिए, अर्थात् बाहर के मुख्य दरवाजे के सम्मुख किसी का द्वार नहीं होना चाहिए,[3] साथ ही उन्होंने एक निषेध वाक्य[4] भी उद्धृत किया है जिसके अनुसार मेष-वृष के सूर्य मे पूर्व, कर्क-सिंह के सूर्य में दक्षिण, तुला-वृश्चिक के सूर्य में पश्चिम तथा मकर-कुम्भ के सूर्य में उत्तर द्वार निषिद्ध है। यह विचार केवल पाषाण, ईंट निर्मित गृह में है, लकड़ी तृण निर्मित गृह में यह विचारनीय नहीं हैं।[5]

## द्वार संख्या

गृह के द्वारों की संख्या कितनी होनी चाहिए, इसके विषय में भी वास्तु ग्रन्थों विभिन्न मत देखने को मिलते हैं। वराहमिहिर ने 81 पद वास्तु और 64 पद वास्तु दोनों में 32-32 द्वार कहे हैं इसमें एकाशीति पद वास्तु में 9 और चौंसठ पद वास्तु में 8 से विभाजित करने पर अनलादि देव प्रयुक्त 32 द्वार बनते हैं।[6] वास्तुराजवल्लभ[7]

---

1. ध्वजादिका: सर्वदिशि ध्वजे मुखं कार्यं हरौ पूर्वयमोत्तरे तथा।
   प्राच्यां वृषे प्राग्यमयोर्गजेऽथवा पश्चादुदक्पूर्वयमेक्ष्जादित:।। मु० चि० 12/5
2. ध्वजाये दिक्षु सर्वासु हरौ पूर्वे यमोत्तरे।
   गजाये पूर्वयमयोर्वृषे द्वारं तु पश्चिमम्।। गृ० प्र० पृ० 21
3. बहिर्द्वारं प्रकुर्वीत नेतरेतरसम्मुखम्।
   बहिर्द्वारं न कुर्वीत तद्गृहद्वारसम्मुखम्।। वा० सौ० 374
4. मेषे वृषे च सूर्ये तु पूर्वद्वारं न शोीज्ञनम्।
   कर्काटके च सिंहे वा याम्यद्वारं न शोभनम्।
   तुलायां वृश्चिके चैव वर्ज्यं द्वारन्तु पश्चिमे।
   सूर्ये मकरकुम्भस्थे सौम्यद्वारन्तु निन्दितम्।। वा० सौ० 396-397
5. पाषाणेष्टिगृहादीनि निन्द्यमासे न कारयेत्।
   तृणदारूगृहारम्भे मासदोषो न विद्यते।। वा० सौ० 398
6. नवगुणसूत्रविभक्तान्यष्टगुणेनाथवा चतु:षष्टे:।
   द्वाराणि यानि तेषामनलादीनां फलोपनय:।। वृ० सं० 53/71
7. एकं द्वारं प्राङ्मुखं शोभनं स्याच्चातुर्वक्त्रं धातृभूतेशजैने।
   युग्मं प्राच्यां पश्चिमेऽथ त्रिकेषु मूलद्वारं दक्षिणे वर्जनीयम्।। वा० रा० व० 8/31

में द्वार संख्या के विषय में यह निर्देश है कि यदि मकान में एक ही द्वार रखना हो तो पूर्व दिशा में बनाना उत्तम होता है। यदि मकान में दो द्वार बनाने हों तो पूर्व दिशा और पश्चिम दिशा में कभी न बनाएँ। चौड़ाई के कोण के द्वार नहीं बनाना चाहिए ऐसा द्वार दु:ख, शोक और पीड़ादायक होता है। यह बात भवन और भूखण्ड के द्वार दोनों पर लागू होती है। प्राय: सभी भूखण्डों में कोण के द्वार देखने को मिलता है। शास्त्र इसकी अनुमति नहीं देता है। समरांगण सूत्रधार में द्वार की स्थिति के अनुसार भवनों को चार श्रेणियों में बाँटा गया है। एक ही शाला में शुभ और अशुभ चार निवेश्य द्वार उत्संग, हीनबाहु, पूर्णबाहु तथा प्रत्यक्षाय बताए गए हैं।[1]

## द्वार फल विवरण

दिशा एवं वास्तु पद के अनुसार भी द्वार फल का विवेचन वास्तु विशेषज्ञों ने किया है कि पूर्व दिशा के वास्तु पदों में निर्मित द्वारों का फल बताते हुए कहा है कि शिखि से आकाश तक आठ देवता पूर्व में स्थित हैं। इनमें प्रथम शिखि स्थान में द्वार से अग्निभय, द्वितीय पर्जन्य स्थान में द्वार से कन्याओं का जन्म, तृतीय जयंत से अत्यधिक धन, चतुर्थ इन्द्र में राजा से सम्मान, पञ्चम सूर्य में क्रोध, षष्ठ सत्य में असत्य भाषण, सप्तम भृश में क्रूरता एवं अष्टम अंतरिक्ष स्थान में द्वार निर्मित करने से तस्कर भय होता है।[2] वास्तु पदों में निर्मित द्वार फल के विषय में वास्तुसौख्यम् में वशिष्ठ संहिता[3] का मत उद्धृत किया गया है। इसके अनुसार पूर्व दिश में क्रमश: वामावर्त से आठ भागों में दु:ख, शोक, धन प्राप्ति, नृप पूजा, अधिक धन, कन्या जन्म, अपुत्रता तथा धन हानि होती है। इसमें भागों की गणना की विधि बताते हुए कहा गया है कि पूर्व के आठ भागों को ईशान कोण से, दक्षिण के आठ भागों को अग्नि कोण से, पश्चिम के आठ भागों को नैर्ऋत्य कोण से और उत्तर के भागों का प्रारम्भ वायव्य कोण से करना चाहिए।[4]

---

1. एकस्यामपि शालायां चत्वार: सप्रकीर्तिता:।
निवेश्य द्वारभागाश्च कथ्यन्ते च शुभाशुभा:।।
उत्सङ्गो हीनबाहुश्च पूर्णबाहुस्तथा पर:।
प्रत्यक्षायश्चतुर्थश्च निवेश: परिकीर्तित:।। स० सू०
2. अनलभयं स्त्रीजननं प्रभूतधनता नरेन्द्रबाल्लभ्यम्।
क्रोधपरताऽनृतत्वं क्रौर्यं चौर्यं च पूर्वेण।। बृ० सं० 53/72
3. दु:ख शोको धनप्राप्तिर्नृपपूजा महद्धनम्।
स्त्रीजन्मापुत्रता हानि: प्राच्यां द्वारफलान्यत:।। वा० सौ० 326
4. पूर्वाष्यैशान्यायाम्याग्नेयांदक्षिणानि जानीयात्।
द्वाराणि नैर्ऋत्यत्यादीनि पश्चिमान्युत्तराणि वायोश्च।। बृ० दै० र० 86/363

दक्षिण दिशा में आठ द्वारों का फल बताते हुए बृहत्संहिता[1] में कहा गया है कि दक्षिण दिशा के पहले पद का नाम अनिल है इसमें द्वार का न्यास करने पर अल्प पुत्र होते हैं। द्वितीय पौष्ण भाग में द्वार न्यास से दासता, तृतीय वितथ में द्वार न्यास से नीच-कर्म प्रवृत्ति, चतुर्थ बृहत्क्षत में सुभक्ष्य, सुपान एवं सुत की वृद्धि, पञ्चम याम्य में अशुभ, षष्ठ गन्धर्व में कृतघ्नता, सप्तम भृङ्गराज में निर्धनता तथा अष्टम मृग नामक वास्तु में द्वार का न्यास करने से पुत्र एवं बल का नाश होता है। पश्चिम दिशा में सर्वप्रथम पितृ नामक वास्तुपद में द्वार निर्माण करने से पुत्रों की पीड़ा, द्वितीय दौवारिक में शत्रुवृद्धि, तृतीय सुग्रीव वास्तुपद में पुत्र एवं धन की प्राप्ति, चतुर्थ कुसुमदन्त में पुत्र, धन, फल, सम्पत्ति, पञ्चम वरुण नाम वास्तु पद में धन सम्पत्ति, षष्ठ असुर में राजभय, सप्तम शोष में धनक्षय एवं अष्टम पापयक्ष्मा नामक वास्तुपद में द्वार निर्माण करने से गृहस्वामी को रोग भय होता है।[2]

प्रशस्त द्वार स्थापना का निर्देश करते हुए ज्योतिषीय ग्रन्थ मुहूर्त मार्त्तण्ड में बताया है कि घर की लम्बाई को 9 से भाग देकर पूर्वादि दिशा की दीवार द्वार वाम भाग से 3/6/5/5 भाग में इस प्रकार पूर्वादि दिशाओं में विभिन्न वास्तु पदों पर निर्मित द्वारों का भिन्न-भिन्न फल वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में प्राप्त होता है। वास्तुसौख्यम्कार ने भी द्वार फल के विषय में अपने पृथक्-पृथक् मत अभिव्यक्त किए हैं। दक्षिण दिशा के आठ द्वारों का फल बताते कहा गया है कि दक्षिण के आठ भागों में प्रथम द्वारा का फल मृत्यु, द्वितीय में बंधन, तृतीय में भय, चतुर्थ में पुत्र प्राप्ति, पञ्चम में धनागम, षष्ठ में यश लाभ, सप्तम में चोर भय और आठवें भाग में द्वार रखने व्याधिभय होता है।[3] उत्तर दिशा के आठ द्वारों का फल वास्तुसौख्यम्कार[4] ने कहा है कि प्रथम भाग में द्वार से निर्धनता, द्वितीय में स्त्री दोष, तृतीय में हानि, चतुर्थ में सम्पत्ति, पञ्चम में प्रीति, षष्ठ में सुखागम, सप्तम में शत्रुबाधा एवं उत्तर दिशा के अष्टम भाग में निर्मित द्वार से दुःख होता है। मुख्य द्वार का निर्णय करते हुए वास्तुसौख्यम्कार ने कहा है कि

1. अल्पसुतत्वं प्रेष्यं नीचत्वं भक्ष्यपानसुतवृद्धि।
   रौद्रं कृतध्नमथनं सुतवीर्यध्नं च याम्येन।। बृ० सं० 53/73
2. सुतपीडा रिपुवृद्धिः सुतधनप्राप्तिः सुतार्थफलसम्पत्।
   धनसम्पन्ननुपपतिभयं धनक्षयो रोग इत्यपरे।। वृ० सं० 53/74
3. निधनं बन्धनं भीतिः पुत्राप्तिश्च धनागमः।
   यशो लाभश्चोरभयं व्याधि भीतिश्च दक्षिणे।। वा० सौ० 327
4. नैस्व्यं स्त्रीदूषणं हानिः सम्पत्प्रीतिः सुखागमः।
   शत्रुबाधा तथा दुःखं चोत्तरस्यां दिशि क्रमात्।। वा० सौ० 329

जिस दिशा में द्वार निर्माण करना हो, उसके 9 भाग करने चाहिए। भूमि के भीतर मार्ग की ओर मुँह कर खड़ा होना चाहिए। दाहिनी ओर से 5 भाग एवं बायीं ओर से 3 भाग छोड़कर शेष भाग में द्वार की स्थापना करनी चाहिए। यहाँ वाम (दक्षिण) भाग मकान से निकलते समय का लेना चाहिए।[1] इस प्रकार वास्तुसौख्यम् में पूर्वोक्त कथनों के आधार पर निष्कर्ष निकालते हुए कहा गया है कि नव विभक्त द्वार प्रकरण विधान के निष्कर्ष से पूर्वादि दिशाओं में वाम से दक्षिणावर्त क्रमशः पूर्व से तीसरे, चौथे, दक्षिण से चौथे, पश्चिम व उत्तर में तीसरे, चौथे, पाँचवें भाग में विधानतः द्वार निर्माण शुभ होता है।

## द्वारवेध निरूपण

विभिन्न दिशाओं में निर्मित द्वारों का फल विवेचन करने के पश्चात् द्वारवेध के कारणों तथा फल का निर्देश करते हुए कहा गया है कि प्रमुख द्वार के सम्मुख वेध नहीं होना चाहिए। वराहमिहिर द्वारवेध के कारण इस प्रकार उद्धृत किए हैं - राजमार्ग, वृक्ष, दूसरे घर का कोना, कूप, स्तम्भ, कीचड़, या गन्दी नाली, देवता तथा ब्रह्मवेध (ब्रह्म अथवा किसी देवतुल्य मनुष्य की प्रतिमा) ये सब द्वार के सम्मुख हो तो अशुभ है। गृहद्वार की ऊँचाई से द्विगुणित भूमि छोड़कर यदि यह वेध स्थित हो तो दोष नहीं होता।[2] द्वार वेध का उल्लेख वास्तुसार में इस प्रकार किया गया है कि चौराहे की गली से विद्ध द्वार प्रवास और नौकरों से द्वेष समुपस्थित करता है। ध्वजा से विद्ध-द्वार द्रव्य का नाश करता है तथा वृक्ष से विद्ध होने पर शिशुओं को दोष-दायक होता है। कीचड़ से विद्ध होने पर शोक, जल से व्यय, कूप से अपस्मार (मिरगी) और दैवत (देवमन्दिर) से विद्ध होने पर विनाश खंभों से विद्ध होने पर स्त्रियों का दूषण, ब्रह्म से विद्ध होने पर कुल का नाश - ये दोष कहे गये हैं। प्रमाण से अधिक द्वार-निर्माण राजा का भय उपस्थित करता है। मान से कम द्वार व्यसन और चोरों से भय उपस्थित करता है।[3]

1. नवभागं गृहं कृत्वा पञ्चभागं तु दक्षिणे।
त्रिभागं वामतः कृत्वा शेषे द्वारं प्रकल्पयेत्।। वा० सौ० 323
2. मार्गतरूकोणकूपस्तम्भभ्रमविद्धमशुभदं द्वारम्।
उच्छ्रायाद्द्विगुणमितां त्यक्त्वा भूमिं न दोषाय।। बृ० सं० 53/76
3. प्रवासो भृत्यजो द्वेषो विद्धे चत्वररथ्यया।
नाशं द्रव्यं ध्वजाविद्धं वृक्षेण शिशुदूषकम्।।
पङ्कविद्धे भवेच्छोकः सलिलस्राविणि व्ययः।
कूपेन विद्धेऽपस्मारो विनाशो दैवतेन च।।

वास्तुराजवल्लभ[1] में द्वार वेध का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वृक्ष, कोण, कोल्हू इत्यादि भ्रमण यंत्र, खम्भा, कूप, देवमन्दिर और कील इन वस्तुओं से द्वार वेधित हो अर्थात् द्वार के सामने ये वस्तु हो तो शुभ नहीं होता है, परन्तु मकान की ऊँचाई की दूनी जमीन छोड़कर अर्थात् दूनी दूरी से अधिक दूरी पर हो तो वेध का दोष नहीं होता है एवं गृह तथा वेधवस्तु के बीच राजमार्ग हो तो वेध नहीं होता है। वास्तुरत्नाकर[2] में द्वारवेध के बारे में यह उद्धृत किया गया है कि प्रासाद (राजभवन) अथवा साधारण मकान के पीछे या बगल में ये सब वस्तु हो तो वेध नहीं होता है। केवल सम्मुख रहने पर ही वेध होता है। एक अन्य मत द्वारा यह भी स्पष्ट किया गया है कि विस्तार के बीच में (जहाँ पर द्वार बनाना विहित है) द्वार बनाने से पुत्र, पौत्र तथा धन का लाभ होता है। विस्तार के कोण में द्वार बनाने से दुःख, शोक और भयदायक होता है।[3] बृहद्वास्तुमाला में द्वारवेध का विवेचन करते हुए कहा गया है कि मार्ग से वेध युक्त गृह द्वार गृहपति का नाश करता है। वृक्ष से वेध युक्त गृह द्वार बालकों के लिए अहित कारक होता है। कीचड़ से विद्ध द्वार शोक करता है। जल निकलने वाले मार्ग से विद्ध द्वार अपस्मार रोग करता है, देव मूर्ति से विद्ध द्वार विनाश कारक होता है। स्तम्भ विद्ध द्वार स्त्री को दुश्चरित्र बनाता हैं, ब्राह्मण से विद्धद्वार कुल नाश करता है।[4] द्वारवेध के सम्बन्ध में मयमत के अनुसार द्वार का वृक्ष, कोप,

---

स्तम्भेन दूषणं स्त्रीणां ब्रह्मणां तु कुलक्षयः।
मानादभ्याधिके द्वारे राजतो जायते भयम्।।
व्यसनं मानतो हीने चौरेभ्यश्च भयं भवेत्। वा० सा० 83-85

1. द्वारं विद्धशोभनं च तरूणा कोणभ्रमस्तम्भकैः,
कूपेनापि च मार्गदेवभवनैर्विद्धं तथा कीलकैः।
उच्छ्रयाद् द्विगुणां विहाय पृथिवीं वेधो न भित्त्यन्तरे,
प्राकारान्तरराजमार्गपरता वेधो न कोणद्वये।। वा० रा० व० 5/27

2. पृष्ठतः पार्श्वयोर्वापि न वेधं चिन्तयेद् बुधः।
प्रसादे वा गृहे वापि वेधमग्रे विनिर्दिशेत्।। वा० र० 55

3. द्वारमायामतः कार्यं पुत्रपौत्रधनप्रदम्।
विस्तारकोणं द्वार यद् दुःखशोकभयप्रदम्।। वा० रा० 56

4. रथ्या विद्धं द्वारं नाशाय कुमारदोषदं तरूणा।
पङ्कद्वारे शोकोव्ययोऽम्बनिःस्राविनिप्रोक्तः।।
कूपेनापस्मारो भवति विनाशश्च देवताविद्धे।
स्तम्भेन स्त्रीदोषाः कुलनाशो ब्राह्मणाभिमुखे।। बृ० वा० मा० 154-155

चारदीवारी, स्तम्भ एवं कूप से विद्ध होना, देवालय से विद्ध होना, मार्ग से विद्ध होना, बाँबी एवं भस्म से विद्ध होना, सिर तथा मर्मस्थान से विद्ध होना विष नाड़ी के समान अर्थात् अप्रशस्त माना है और वह सर्पो का स्थान (मृत्युकारक स्थान) होता है। द्वार गृह का रक्षक एवं दृढ़ होना चाहिए। ऐसा द्वार विद्वानों को प्रसन्न करता है।[1]

द्वारवेध का विशेष फल कथन करते हुए बृहत्संहिताकार[2] ने कहा है कि जिस गृह के द्वार का किवाड़ विना खोले ही खुल जाये तो उस गृह के निवासियों को उन्माद होता है और यदि अपने आप बन्द हो जाए तो कुल नाश होता है, पूर्व कथित परिमाण से अधिक द्वार का परिमाण हो तो राजभय और यदि प्रमाण से अल्प हो तो चोर भय और दु:ख होता है। द्वार के सामने स्थित द्वार कल्याणकारक नहीं होता इसे विशेष संकट कारक कहा गया है। जिस द्वार की मोटाई अल्प हो वह भी शुभ नहीं होता है, मृदङ्ग की आकृति वाला अति विपुलद्वार क्षुधा का भय करता है और कुबड़ा द्वार कुल का नाशक होता है। यदि ऊपरी काष्ठ आदि के भय से दबा हुआ द्वार हो तो गृहस्वामी को पीड़ा करता है। भीतर की तरफ झुका कपाट गृहस्वामी की मृत्यु कराता है, बाहर की ओर झुका द्वार गृहस्वामी को प्रवासी बनाता है और दिग्भ्रांत द्वार हो तो गृह का स्वामी चोरों से पीड़ित होता है। राजवल्लभमण्डनम् ग्रन्थ में मण्डन ने त्याग करने के लिए पाँच द्वारवेधों का कथन किया है उनके अनुसार द्वार स्थापना अवसर पर वृक्ष, दूसरे के माकन का कोणा, परनाला, दूसरे घर का स्तम्भ और कूप-ये पाँच वेध अर्थात् नकारात्मक वस्तुएँ टाली जानी चाहिए, लेकिन घर की ऊँचाई से दुगुनी दूरी पर यदि कोई वेध है तो किसी प्रकार का दोष नहीं होता है। द्वार व उसके सामने जो वेध आए उनके बीच यदि दीवार, किला, परकोट, राजमार्ग या सम्मुख घर के दो कोने हो तो वेध दोष नहीं लगता।

---

1. वृक्षकर्णाकधिस्थूणकूपविद्धं तथैव च।
देवायतनविद्ध च वीथीविद्धं तथैव च।।
वल्मीकभस्मविद्धं च सिरामर्मदिविद्धकम्।
विषनाड़ीसमानं च फणिनां पदमेव च।।
स्थूलभावावनं रक्षद्वारं तल्लसितं वरै:। म० म० 30/38-40

2. उन्माद: स्वयमुदाटितेऽथ पिहिते स्वयं कुलविनाश:।
मानाधिके नृपभयं नृपभयं दस्मुभयं व्यसनमेव नीचे च।।
द्वारं द्वारस्योपरि यत्तन्न शिवाय संकट यच्च।
आव्यात्त क्षुदभयदं कुब्जं कुलनाशनं भवति।।
पीड़ा करमतिपीडितमन्तर्विनतं भवेद भावाय।
वाह्यविनते प्रवासो दिग्भ्रान्ते दस्युभि: पीड़ा।। बृ० सं० 53/79-81

वास्तुसौख्यम् में द्वार वेध के विषय में कुछ वेधों का विवेचन किया गया है। वास्तुशास्त्र के मत को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि वेध पीछे, वाम व दक्षिण पार्श्व से नहीं होता है। प्रासाद या गृह में जो वेध कहा गया है उसका तात्पर्य सम्मुख वेध से है। चण्डी व सूर्य की दृष्टि सम्मुख, पीछे, वासुदेव की दृष्टि वाम भाग, ब्रह्म की दृष्टि आगे, पीछे व दक्षिण भाग में ही होती हैं। दक्षिण दृष्टि रक्षा करती है और वाम दृष्टि निराश्रय देती है) किन्तु सामने की दृष्टि (सम्मुख वेध) समस्त कुल का विनाश करती है।[1] एक द्वार के ठीक ऊपर दूसरा द्वार एवं अन्य के गृह के प्रमुख द्वार के सम्मुख अपने गृह का मुख्य द्वार रखना अशुभकारक कहा गया है।[2]

इसके अतिरिक्त द्वार के सम्मुख बाहर का द्वार नहीं बनाना चाहिए अर्थात् बाहर के मुख्य द्वार के सामने कोई भी द्वार नहीं होना चाहिए।[3] वास्तुसौख्यम्कार ने समराङ्गणसूत्रधार[4] के आधार पर छाया विद्ध द्वार को भी अशुभ कहा है। उनके अनुसार गृह अथवा प्रासाद की छाया यदि कूप के अन्दर प्रविष्ट हो जाती है तो वह गृह छायाविद्ध होगा। छायाविद्ध गृह में निवास करना उचित नहीं है। गृह पर पड़ने वाली वृक्षों की छाया के विषय में स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि प्रथम व अंतिम प्रहर के अतिरिक्त दूसरे व तीसरे प्रहर की किसी भी वृक्ष की छाया यदि गृह पर पड़े तो वह दुःखदायिनी होती है।

---

1. पृष्ठतः पार्श्वयोर्वापि न वेधं चिन्तयेद्बुधः।
प्रासादे वा गृहे वापि वेधमग्रे विनिर्दिशेत्।।
वर्जयेद्ग्रतः पृष्ठदृष्टिं चण्डीससूर्ययोः।
वामत्वं वासुदेवस्य दक्षिणं ब्राह्मणं पुनः।।
दक्षिणत्वं रक्षिणत्वं च वामे चैव निराश्रयम्।
तदा वेधं विजानीयाद् गृहेशस्य क्षयावहम्।।
उपर्युपरि यद्वेश्म न समं तत् प्रकल्पयेत्।
समवेध भवेत्तु समस्तकुलनाशनम्।। वा० सौ० 369-372
2. द्वारस्योपरि द्वारं द्वारं द्वारस्य सम्मुखम्।
न कर्त्तव्यं पदं यस्मात्तदगृहं न सुखावहम्।। वा० सौ० 373
3. बहिर्द्वारं प्रकुर्वीत नेतरेतरसम्मुखम्।
बहिर्द्वारं न कुर्वीत तद्गृहद्वारसम्मुखम्।। वा० सौ० 374
4. कूपमध्ये गता छाया गृहप्रासादयोर्यदि।
छायाविद्धं भवेतच्च तद्गृहे न हि संवसेत्।।
प्रथमान्तयामवर्ज्या द्वित्रिप्रहरसम्भवा।
छाया वृक्षद्वयादीना सदादुःखप्रदायिनी।। वा० सौ० 375-376

अतः गृहनिर्माण कर्त्ता को गृह निर्माण करते समय द्वार स्थापना में वास्तुशास्त्रीय नियमों का भली-भाँति विचार करना चाहिए कि द्वार में किसी प्रकार को वेध न हो एवं उसकी दिशा सम्यक् हो अन्यथा उस गृह में निवास करना गृहस्वामी एवं उसके परिवार के लिए अनिष्टकारक सिद्ध हो सकता है। इसलिए गृह में सर्व कामना एवं परिवार के कल्याण के लिए द्वार स्थापन में वास्तुशास्त्रीय नियमों का पालन अनिवार्य रूप से करना चाहिए।

• • •

# 7
# गृहारम्भ सम्बन्धी वास्तुशास्त्रीय अध्ययन

विभिन्न वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में गृहारम्भ करने से पूर्व करने योग्य कुछ विधानों का वर्णन किया गया है। जिनको पूरा किए बिना गृहारम्भ करना अरिष्टकर माना गया है। गृहारम्भ करने से पूर्व गृहकर्त्ता किसी वास्तु विशेषज्ञ के पास जाता है तथा उससे गृह निर्माण के लिए विचार विमर्श करके शुभ मुहूर्त्त देखकर किसी विशेष दिन को गृहारम्भ करता है, ताकि उसका गृह निर्विघ्न बन सके। गृह आरम्भ करने के लिए उसे गृह निर्माण वाली भूमि का सर्वप्रथम चयन करना होता है। तत्पश्चात् वास्तु मर्मज्ञ से भूमि परीक्षण करवाया जाता है। भूमि चयन तथा भूमि परीक्षण का विस्तार पूर्वक वर्णन पूर्व अध्याय में किया जा चुका है अतः उसका पुनः उल्लेख करना आवश्यक नहीं है। वास्तुरत्नाकर के अनुसार गृहनिर्माण से पूर्व गृहस्वामी को सर्वप्रथम ग्राम की अनुकूलता फिर दिशा की अनुकूलता उसके बाद भूमि की अनुकूलता तत्पश्चात् पिण्ड, आय, वार, नक्षत्रादि का शास्त्रानुसार विचार करना चाहिए।[1] वास्तुराजवल्लभ[2] में भी पादसंस्थान (गेहारम्भ) से पूर्व बुद्धिमान पुरुषों को पहले शुभ दिन में भूमि की परीक्षा करके बाद में वास्तु पूजनपूर्वक तह पर्यंत अथवा पानी पर्यन्त भूमि को खोदकर उसका शोधन करने के बाद लग्न, चन्द्रमा, शकुन का बल देखकर, तिथि, वार, नक्षत्र, योगे के आधार पर शुभमुहूर्त्त में शिलान्यास करना चाहिए। घास-फूस या लकड़ी का गृह बनाने के लिए मास शुद्धि की आवश्यकता

---

1. ग्रामादेरनुकूलत्वं दिशो भूतग्रहस्य च।
गृहाधिष्यादिकं शुद्धं वीक्ष्यायव्ययमंशकान्।।
सुगेहं रचयेद्धीमान् वास्तुशास्त्रानुसारतः। वा० र० 1/11
2. आदौ भूमिपरीक्षणं शुभदिने पञ्चाच्च वास्त्वर्चनं
भूमेः शोधनकं ततोऽपि विधिवत्पाषाणतोयान्तकम्।
पश्चाद्वेश्मसुरालयादिरचनार्थं पादसंस्थापनं
कार्यं लग्नशशाङ्कशाकुनबलैः श्रेष्ठे दिने धीमता।। वा० रा० व० 11/14

नहीं क्योंकि ये चिरस्थायी नहीं होते हैं। इसी प्रकार शास्त्रों में यह भी बताया गया कि कुछ गृह निर्माण पशु गृह आदि भी निंदित मास के किए जा सकते हैं।

**शल्यशोधनविधान**

वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में गृहनिर्माणारम्भ से पूर्व अथवा शल्य शोधन करने का विधान किया गया है। मत्स्यपुराण के मतानुसार गृहारम्भ के अवसर पर गृहपति के जिस अंग में खुजली हो वास्तु के उसी अंग के स्थान में गडी हुई शल्य अथवा कील होगी उसे शल्यसमेत वास्तु की पूजा भयप्रद मानी गई है और अशल्य वास्तु की पूजा कल्याण करने वाली कही गई है। यह विधि सामान्य गृह एवं प्रासाद दोनों के निर्माण के समय प्रयोग करने योग्य है।[1] वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में शल्य ज्ञान के विषय में बताते हुए कहा है कि हवन काल अथवा प्रश्न काल में गृह का स्वामी जिस अंग को खुजलावे वास्तु पुरुष के उस अंग स्थान में शल्य जानना चाहिए अथवा जिस देवता की आहुति देने के समय अशुभ निमित्त (शकुन-छींक-चिल्लाना, पादना या अशुभ शब्द श्रवण) हो या अग्नि में विकार (विस्फुलिङ्ग शब्द के साथ दुर्गन्ध) उत्पन्न हो तो उस देवता के स्थान में शल्य जानना चाहिए।[2]

भूमि से प्राप्त शल्यों के आधार पर फल का विवेचन करते हुए बृहत्संहिता[3] में कहा गया है कि काष्ठ का शल्य हो तो धन हानि, हड्डी का शल्य हो तो शस्त्र का भय, कपाल के केश का शल्य हो तो मृत्यु भय, कोयले का शल्य हो तो सदैव अग्नि का भय बना रहता है। स्वर्ण एवं रजत के अतिरिक्त कोई शल्य वास्तु पुरुष के

---

1. गृहारमेषु कण्डूतिः स्वाम्यङ्गे यत्र जायते।
शल्यं त्वपनयेत्तत्र प्रासादे भवने तथा।।
सशल्यं भयदं यस्मादशल्य शुभदायकम्। म० पु० 253/48-49
2. कण्डूयते यदङ्ग गृहभर्त्तुर्यत्र वा ऽमराहुत्याम्।
अशुभं भवोन्निमित्तं विकृतेर्वाग्नेः सशल्यं तत्।। बृ० सं० 53/59
3. धनहानिर्दारूमये पशुपीड़ारूग्भयानि चास्थिकृते।
लोहमये शस्त्रभयं कपालकेशेषु मृत्युः स्यात्।।
अङ्गरे स्तेनभयं भस्मानि च विनिर्दिशेत् सदाग्निभयम्।
शल्यं हि मर्मसंस्थं सुवर्णरजतादृतेऽत्यशुभम्।।
कर्मष्यमर्मगो वा निरूणध्यर्थागमं तुषसमूहः अपि नागदन्तको
मर्मसंस्थितो दोषकृद्भवति।। वही 53/63-65

मर्मस्थान[1] में स्थित हो तो अत्यन्त अशुभ होता है। यदि धान्यों की भूसी मर्म स्थान का किसी अन्य स्थान में स्थित हो तो वह धन के आगमन को रोकती हैं तथा नागदन्त मर्मस्थान में हो तो दोष पैदा करने वाला होता है, पर नागदन्त का मर्मस्थान के अतिरिक्त किसी अन्य स्थान पर होना शुभ माना गया है। भूमि के भीतर स्थित विजातीय पदार्थ अर्थात् कोयला, हड्डी, राख आदि को शल्य कहा गया है। गृहस्वामी को मकान बनाने से पूर्व या मकान बन जाने के बाद भी यदि शल्य की स्थिति प्रतीत हो तो उसे यत्नपूर्वक निकलवाना चाहिए।

वास्तुरत्नाकर[2] के अनुसार शल्य शोधन के ज्ञान के विषय में कहा गया है कि गृह का स्वामी देवता, वृक्ष और फल इन तीनों का अलग-अलग नाम लेवे यदि नीचे लिखे कोष्ठ के अक्षर उन (देवता, वृक्ष और फल) के नाम का आद्यक्षर हो जावे तो उस मकान के तत्तद्भाग में शल्य का आदेश करे। शेष स्पष्ट है।

**शल्यज्ञानार्थ चक्र**

| | | |
|---|---|---|
| प फ ब भ म | अ इ उ ऋ लृ | क ख ग घ ङ |
| श ष स ह | य र ल व | च छ ज झ ञ |
| त थ द ध न | ए ऐ ओ औ | ट ठ ड ढ ण |

सिद्धान्त शिरोमणि में शल्य के विषय यह कहा गया है कि खात खनन में पाषाण

1. क. सम्पाता वंशानां मध्यानां समानि यानि च पदानाम्।
मर्माणि तानि विन्द्यान्न तानि परिपीडयेत्प्राग्यः।। वही 53/57
ख. रोगाद्वायुं पितृतो हुताशनं शोषसूत्रमपि वितथात्।
मुख्याद्भृशं जयन्ताच्च भृङ्गमदितेश्च सुग्रीवम्।।
तत्सम्पाता नव ये तान्यतिमर्माणि सम्प्रदिष्यनि।
यश्च पदस्याष्टांशस्तत् प्रोक्तं मर्मपरिमाणम्।।
पदहस्तसंख्यया सम्मितानि वंशोङ्गुलानि विस्तीर्णः।
वंशव्यासोऽध्यर्धः शिराप्रमाणं विनिर्दिष्टम्।। वही 53/61-63

2. प्रश्नत्रयं वापि गृहाधिपेन देवस्य वृक्षस्य फलस्य वाऽपि।
वाच्यां हि कोष्ठाक्षरसंस्थितेन शल्यं विलोक्यं भवनेषु सृष्टया।।
आ का चा टा ए त शा पा य वर्गाः प्राच्यादिस्थे कोष्ठेक शल्यमुक्तम्।
केशाङ्गाराः काष्ठलौहास्थिकाद्यं तस्मात्कार्यं शोधनं भूमिकायाः।
शल्ये गवां भूपभयं हयानां रूजः शुनां वै कलहप्रणाशौं
खरोष्ट्रयोर्हानिमपत्यनाशं नृणामजस्याग्निभयं तनोति।। वा० र० 3/24-26

की उपलब्धि से धन, आयु चिरस्थायी, ईंट निकलने पर धनागम, कपाल, कोयला, केश आदि से व्याधि-पीड़ा होगी।[1] बृहत्संहिता[2] में शल्य शोधन के अन्य प्रकार द्वारा यह बताया गया है कि शल्य परीक्षा के निमित्त, घर में प्रवेश करते समय हाथी, घोड़ा, कुत्ता, ऊँट, बिल्ली आदि जो जानवर सूर्याभिमुख होकर शब्द करे तो उसी समय गृहस्वामी जिस भाग में खड़ा हो वहीं पर शल्य होता है। प्रायः शल्य शब्द करने वाले जानवर से सम्बन्धित होता है।

इस प्रकार वास्तुसौख्यम् में शल्य शोधन के बारे में अनेक मत प्राप्त होता हैं। इसके अनुसार यदि सूत्र प्रसारण के समय टूट जाए तो गृहस्वामी की मृत्यु होती है। कील गाढ़ते समय अधोमुख हो जाए तो स्वामी महान् रुग्ण हो जाएगा। गृहस्वामी व स्थपति के भ्रम होने पर मृत्यु का भय है। पूजा हेतु ले जाते समय कलश यदि कन्धे से खिसक जाए, तो स्वामी के शिरोरोग की सूचना है कुल के उपद्रव की सूचना है। कलश के भङ्ग होने पर कार्य क़रने वालों की हत्या की सूचना है तथा हाथ से गिर जाने पर स्वामी की मृत्यु समझनी चाहिए।[3] विश्वकर्मा ने विभिन्न वर्णों के लिए विभिन्न वस्तुओं से निर्मित सूत्र का निर्देश किया गया है। ब्राह्मणों के लिए कुशा, क्षत्रिय के लिए मूंज, वैश्यों के लिए कपास व शूद्रों के लिए सन निर्मित सूत्र होना चाहिए।

टोडरमल ने वास्तुसौख्यम् में शकुनों के आधार पर शल्य निर्देश करते हुए वशिष्ठ की उक्ति उद्धृत करते हुए कहा है कि षड्गुणी कृत सूत्र भूमि पर वास्तु के भित्ति क्रम से प्रसारण करें तथा उस सूत्र का जो प्राणी उल्लङ्घन करता है, तो उस प्राणी की हड्डी एक पुरुष अर्थात् साढ़े तीन हाथ नीचे कहने चाहिए। तेल अथवा उवटन लगाया हुआ मानव उस भूमि पर जिस दिशा अथवा स्थान पर दिखाई दे उस

---

1. खन्यमाने यदा क्षेत्रे पाषाणः प्राप्यते यदि।
   धनायुश्चिरतास्य स्यादिष्टकासु धनागमः।।
   कपालाङ्गारकेशादौ व्याधिना पीडितो भवेत्। स० शि० 20/43
2. शकुनसमयेऽथवाऽन्ये हस्त्यश्वश्वादयोऽनुवाशन्ते।
   तत्प्रभवमस्थिं तस्मिंस्तदङ्गसमभूतमेवेति।। बृ० सं० 53/107
3. सूत्रच्छेदे मृत्युः कीले चावाङ्मुखे महान् रोगः।
   गृहनाथस्थपतीनां स्मृतिलोपे मृत्युरादेश्यः।।
   स्कन्धाच्च्युते शिरोरूक् कुलोपसर्गोऽपवर्जिते कुम्भे।
   भग्नेऽपि च कर्मिवधश्चयुते करात् गृहपतेर्मृत्युः।। वा० सौ० 53/54

दिशा के उसी स्थान पर सैंतीस अंगुल के नीचे मानव की हड्डी है। सूत्र प्रसारण के समय वास्तु भूमि के जिस स्थान पर श्वान बैठ जाये, तो उस स्थान मे श्वान की हड्डी साठ (60) अंगुल नीचे होगी। उन्मादी (पागल) व्यक्ति जिस स्थान पर उपस्थित हो वहाँ भी मानव की हड्डी दो हाथ नीचे होगी। चाण्डाल व जटाधारी पुरुष वास्तुभूमि के जिस स्थान पर उपस्थित होंगे वहाँ अस्सी (80) हाथ नीचे मानव की हड्डी होगी। मनुष्य, हाथी, घोड़ा, कुत्ता, पशु आदि एक ही साथ जिस स्थान पर उपस्थित हों, उसी स्थान में साठ (60) अंगुल नीचे हड्डी का निर्देश हैं। वास्तु भूमि के संशोधन के समय यदि किसी स्थान पर आग लग जाए तो उस भूमि के आठ हाथ नीचे बकरे की हड्डी समझनी चाहिए। भूमि संशोधन के लिए सूत्र प्रसारण के समय यदि सूत्र टूट जाए अथवा घड़ा फूट जाय, तो क्रमशः दम्पति की मृत्यु की सूचना होती है।[1]

## मुहूर्त्त निर्णय विवेचन

वास्तशास्त्रीय ग्रन्थों में वर्णित गृह निर्माण से पूर्व विभिन्न ज्योतिषीय पक्षों के आधार पर गृहारम्भ करने का निर्देश दिया गया है। सभी कार्यों की सिद्धि के लिए

---

1. षट्वर्गशुद्धसूत्रेण सूत्रिते धरणीतले।
सूत्रिते समये तस्मिन्सूत्रं केनापि लङ्घितम्।।
तदस्थि तद्विजानीयात्पुरूषस्य प्रमाणतः।
अभ्यक्तो दृश्यते यस्यां दिशि शल्यं समादिशेत्।।
तस्यामेव तदस्थीनि सप्तत्र्यंगुलमानतः।
सूत्रिते समये यत्र श्वा सद्योपरि संस्थितः।।
तदस्थि तद्विजानीयात्षष्ट्यंगुलमिते क्षितौ।
उन्मादे चागते तस्मिन्समये यत्र संस्थिते।।
तदस्थि तत्र जानीयाद्धस्तद्वयमिते क्षितौ।
चाण्डाले जटिले चापि यदा तस्यां दिशि क्षितौ।।
तदस्थि तत्र जानीयादशीत्यंगुलमानतः।
नृगजाश्वपशूनां हि त्वेकस्मिन् यत्र संस्थितिः।।
तदस्थि तत्र जानीयात्षष्ट्यंगुलमिते क्षितौ।
तस्मिन्नवसरे यत्र गृहदाहो भवेद्यदि।।
मेषास्थि तत्र जानीयात्पुरुषाष्टप्रमाणतः।
सूत्रे विसूत्रिते तस्मिन् भिन्ने कुम्भेऽथवा यदि
आदिशेनिधनं तत्र दम्पत्योः क्रमशस्तदा।। वा० सौ० 56-63

काल परीक्षण सर्वप्रथम करना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि काल को सभी जीवों का शुभाशुभ फल देने वाला कहा गया है।[1] मनुष्य को चाहिए कि वह किसी प्रकार के कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व समय शुद्धि का निर्णय अवश्य कर ले क्योंकि शुभ समय पर आरम्भ किया गया कार्य सम्पूर्णता को प्राप्त करता है। राजभवनारम्भ में, सामान्य भवनारम्भ, स्तम्भ स्थापन कर्म में, द्वारस्थापन, गृहप्रवेश, तालाबादि निर्माण में, गोपुराम्भ के कर्म में, विमान मण्डप, बगीचे, गर्भगृह निर्माण में शुभ काल की परीक्षा करके कार्य करने में कार्य सिद्धि होती है तथा मंगल की प्राप्ति होती है। देशभेद से शुभकाल में भिन्नता होती है।[2]

मत्स्यपुराण में गृहनिर्माण में मुहूर्त्त का निर्णय करते हुए कहा गया है कि चैत्र में गृहनिर्माण प्रारम्भ करने वाला मनुष्य व्याधिग्रस्त रहता है। वैशाख में प्रारम्भ करने वाले को धेनु एवं रत्नों की प्राप्ति होती है। ज्येष्ठ मास में गृहारम्भ करने से मृत्यु, आषाढ़ में नौकर, चाकर एवं रत्नादि की प्राप्ति, श्रवण में नौकरों की प्राप्ति, भाद्रपद में हानि, आश्विन में पत्नी नाशकारक कार्तिक में धन-धान्य प्राप्ति, मार्गशीर्ष में अन्न प्राप्ति, पौष में चोरों से भय, माघ में अनेक लाभ तथा अग्नि भय एवं फाल्गुण में सुवर्ण तथा अनेक पुत्रों की प्राप्ति होती है।[3] वैशाखादि मासों में गृहारम्भ का शुभाशुभ

---

1. आदौ कालं परीक्षेत् सर्वकार्यार्थसिद्धये।
   कालौ हि सर्वजीवानां शुभाशुभफलप्रदः।। वि० वा० 3/1
2. प्रासादभवनारम्भे स्तम्भस्थापनकर्मनि।
   द्वारस्थापनवेलायां भवनानां प्रवेशने।।
   वापीतडाकनिर्माणे गोपुराम्भ कर्मणि।
   विमानमण्डपारामंगगर्भगेहोद्धृतौ तथा।।
   कालं शुभं परीक्षेत् मंगलवाप्ति साधकम्।
   देशभेदेन कालोऽपि भिन्नतां प्रतिपद्यते।।
   इष्टिकान्यसनं शस्तं शुभकाले विशेषतः।
   तस्मात्सर्वप्रयत्नेन शुभं कालं न लङ्घयेत्।। वि० वा० 3/3-6
3. चैत्रे व्याधिमवाप्नोति यो गृहं कारयेन्नरः।
   वैशाखे धेनुरत्नानि ज्येष्ठे मृत्युं तथैव च।।
   आषाढे भृत्यरत्नानि पशुवर्गमवाप्नुयात्।
   श्रावणे भृत्यलाभं तु हानिं भाद्रपदे तथा।।
   पत्नीनाशश्चाऽऽश्वभुजे कार्तिके धनधान्यकम्।
   मार्गशीर्षे तथा भक्तं पौषे तस्करतो भयम्।।
   लाभं च बहुशो विन्द्याग्नि माधे विनिर्दिशेत्।
   फाल्गुणे काञ्चनं पुत्रानिति कालबलं स्मृतम्।। म० पु० 253/2-5

फल किञ्चित् मतान्तर के साथ राजवल्लभमण्डन[1] एवं समराङ्गणसूत्रधार[2] में भी वर्णित मिलता है। वास्तुराजवल्लभ के अनुसार धनु और मीन राशि के सूर्य, सिँह राशि के बृहस्पति, क्षीण चन्द्रमा, तिथि, नक्षत्र और लग्न गण्डांत, व्यतिपात, वैधृति, दग्धातिथि, दग्धनक्षत्र, गुरु शुक्र का अस्त, महापात, भद्रा, अधिमास पापग्रह से दृष्ट या युक्त चन्द्रमा इन सभी के अथवा किसी एक के रहने पर कोई शुभ कार्य नहीं करना चाहिए।[3]

बृहद्वास्तुमाला में नारद के मत को उद्धृत करते हुए गृहारम्भ के लिए ग्राह्यमास का विवरण दिया गया है कि मेष के सूर्य में गृहारम्भ शुभ, वृष के सूर्य में धनवृद्धि, मिथुन राशि के सूर्य में स्वामी की मृत्यु, कर्क में शुभ फल, सिँह राशि के सूर्य में नौकर वृद्धि, कन्या के सूर्य में रोग, तुला में सौख्य, वृश्चिक राशि के सूर्य में धनवृद्धि, धनु के सूर्य में बड़ी हानि, मकर के सूर्य धन लाभ, कुम्भ के सूर्य में रत्नलाभ एवं मीन राशि के सूर्य में गृहारम्भ से भय होता है।[4]

---

1. चैत्रेशोककरं गृहादिरचितं स्यान्माधवेऽर्थप्रदं
ज्येष्ठे मृत्युकरं शुचौ पशुहरं तद्वृद्धिदं श्रावणे।
शून्यं भाद्रपदेऽश्विने कलिकरं भृत्यक्षयं कार्तिके।
धान्य मार्गसिहस्ययोर्दहनभीर्माघे श्रियः फाल्गुणे।। रा० व० म० 1/17

2. चैत्रे शोकाकुले भर्ता वैशाखे च धनान्वितः।
ज्येष्ठे गृही विपद्येत नश्यन्ति पशवः शुचौ।।
श्रावण धनवृद्धिः स्यान्नभस्ये न वसेद् गृहे।
कलहश्चाश्विने मासि भृत्या नश्यन्ति कार्तिके।।
मार्गशीर्षे धनप्राप्तिः सहस्ये कामसम्पदः।
माघे वहिनभयं चैव फाल्गुणे श्रीरनुत्तमा।। स० सू० भ० नि 12ध्2-4

3. सूर्ये कार्मुकमीनगे सुरगुरो सिंहे विधौ दुर्बले।
गण्डान्त व्यतिपातवैधृतिदिने दग्धे तिथौ भे तथा।।
शुक्रेऽस्तेऽथगुरौ च पातसमये विष्टयां च मासेऽधिके।
चन्द्रे पापविलोकिते च सहिते कार्यं न किञ्चिद् शुभम्।। उद्धृतं वा० र० 9/8

4. गृहसंस्थापनं सूर्ये मेषस्थे शुभदं भवेत्।
वृषस्थे धनवृद्धि स्यान्मिथुने मरणे ध्रुवम्।।
कर्कटे शुभदं प्रोक्तं सिंहं भृत्यविवर्धनम्।
कन्यारोगं तुले सौख्यं वृश्चिके धनवर्धनम्।।
कार्मुके तु महाहानिर्मकरे स्याद्धनागमः।
कुम्भे तु रत्नलाभः स्यान्मीने सद्म भयावह।। बृ० वा० 4/53-55

वास्तुसौख्यम्[1] में भी मुहूर्त्त निर्णय पर विचार करते हुए कहा गया है कि शुक्लापक्ष में गृहारम्भ होने से सुख की प्राप्ति व कृष्णपक्ष में तस्कर का भय होता है। पूर्णिमा से कृष्णपक्ष की अष्टमी तक पूर्व, कृष्ण नवमी से चतुर्दशी तक उत्तर, अमावस्या से शुक्ल अष्टमी तक पश्चिम और शुक्ल नवमी से चतुर्दशी तक गृहारम्भ निषिद्ध है। 2-3-5-7-10-11-12-13-15 ये तिथियाँ गृहारम्भ में शुभ हैं। गृहारम्भ में गुरु, शुक्र का उदय, शुक्लपक्ष व दिन शुभ हैं किन्तु रात्रि में गृहारम्भ सदा निषिद्ध है।[2] वास्तुसौख्यम्कार ने मत्स्यपुराण का विवेचन करते हुए कहा है कि गृहारम्भ वज्र, व्याघात, शूल, व्यतिपात, अतिगण्ड, विष्कुम्भ, गण्ड, परिघ व वैधृति योगों में न करें। श्वेत, मैत्र, माहेन्द्र, गान्धर्व, भग, रौहिणेय, वैरोचन व सावित्र मुहूर्त्तों में गृहारम्भ शुभ है।[3]

## शिलान्यास विधान विवरण

गृहारम्भ करने से पूर्व शुभ समय व मुहूर्त्त देखकर शिलान्यास करना आवश्यक है। कई लोग खात, खनन, भूमि पूजन को शिलान्यास ही समझते हैं। यह उनकी भ्रान्ति है। शिलान्यास का विवेचन वास्तुशास्त्रीयों ने प्रमुख रूप से किया है। समराङ्गणसूत्रधार में शिलान्यास के लिए प्रयुक्त की जाने वाली चार शिलाओं के नाम का वर्णन करते हुए नन्दा, भद्रा, जया, पूर्णा ये शिलाओं के नाम तथा वाशिष्ठी,

---

1. शुक्लपक्षे भवेत्सौख्यं कृष्णे तस्करतो भयम्।
पूर्णाद्यष्टमीं यावत्पूर्वास्यं वर्जयेद् गृहम्।।
उत्तरास्यं न कुर्वीत नवम्यादिचतुर्दशीम्।
अमवस्याष्टमीं यावत्पश्चिमास्यं विवर्जयेत्।
नवम्यादौ तथा याम्यं यावच्छुक्लचतुर्दशीम्।।
द्वितीयां- पञ्चमीमुख्यास्तृतीया च कनिष्ठिका।
सप्तमी दशमी चैव द्वादश्येकादशी तथा।।
त्रयोदशी पञ्चदशीतिथयः स्युः शुभावहाः। वा० सौ० 400-402
2. गीर्वाणपूर्वगीर्वाणमन्त्रिणेर्दृश्यमानयोः।
शुक्लपक्षे दिवा कार्यं न निर्माणं तु रात्रिषु।। वा० सौ० 405
3. वज्रव्याघातशूलेषु व्यतिपातातिगण्डयोः।
विष्कुम्भगण्डपरिघवैधृतिषु न कारयेत्।।
श्वेते मैत्रेऽथ माहेन्द्रे गान्धर्वे भगरोहिणौ।
तथा वैरोचसावित्रमुहूर्ते गृहमारभेत्।। वा० सौ० 409-410

काश्यपी, भार्गवी, अंगिरसी क्रमशः उनकी संज्ञाएँ कही गई हैं।[1] बृहद्वास्तुमाला[2] में नारायणभट्ट के मत का उद्धरण देते हुए शुभ भूमि का निर्णय करके भूमि को प्रणाम करके जल पर्यन्त या समीप स्थिर वृक्ष अथवा एक पुरुष के समान गहरी मिट्टी खोदकर उसको छोटे-छोटे पत्थरों से भरने का निर्देश दिया गया है। गर्गादि मुनियों ने शिलान्यास के लिए शिलाओं के स्थान पर इष्टिकाओं का निर्देश किया गया है। इन चार ईंटों के नाम विजया, मङ्गला, निर्मला, सुखदा कहे गये हैं तथा इनके प्रमाण क्रमशः 15 अंगुल, 17 अंगुल, 12 अंगुल तथा 23 अंगुल कहे गये हैं।[3] महर्षि कश्यप के मतानुसार शिलान्यास तथा प्रथम स्तम्भ स्थापन पूर्व दक्षिण के मध्य (अग्निकोण) में ही करना चाहिए।[4] शार्ङ्गधर ने भी प्रथम स्तम्भ स्थापन के लिए अग्नि कोण को ही प्रशस्त माना है।[5] शिलान्यास की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए वृहत्संहिता में कहा गया है कि पाँच शिलाओं में से पहली शिला अग्निकोण में, धूपदीप, माला, बलि, उपहार, दक्षिणा से पूजा करके स्थापित करें। शेष शिलाएँ प्रदक्षिणा के क्रम से स्थापित करें। जहाँ शिलान्यास किया हो वहीं पर स्तम्भ उठाने का काम करें। खम्बा उठाते समय छत्र, माला, वस्त्र, धूप, दीप, गन्धाक्षत प्रदान करके निर्माण करें। इसी विधि से द्वार रखते समय भी पूजा करें।[6] समराङ्गणसूत्रधार

---

1. नन्दाभद्राजयापूर्णाश्चतस्रः स्युरिमाः शिलाः।
   वाशिष्ठी काश्यपी तद्वत् भार्गव्याङ्गिररसीति ताः।। स० सू० भ० नि० 20/11-12
2. ज्ञात्वैवं निखनेद् गृहाधिकभुवं नत्वा जलान्तस्तरोर्यावद्वापुरुषस्ततः कपिशिरस्तुल्याश्मभिः
   पूरयेत्।। बृ० वा० 1/119
3. विजया मङ्गला चैव निर्मला सुखदेति च।
   चतुर्द्धा चेष्टकाः प्रोक्ता गृहे च वरूणालये।।
   तिथ्यङ्गुलानि विजया मंगला सप्रचंद्रकैः।
   पक्षेन्दुभिर्निमलास्यात् सुखदा रामपक्षभिः।।
   प्रमाणमिष्टकायाश्च गर्गाद्यैर्मुनिभिः स्मृतः। बृ० वा० 1/120-122
4. सूत्रभितिशिलान्यासं स्तम्भस्यातोपणं तथा।
   पूर्वदक्षिणयोर्मध्ये कुर्यादित्याह कश्यपः।। वृ० वा० 1/126
5. प्रासादेपु च हर्म्येषु गृहेष्वन्येपु सर्वदा।
   आग्नेयां प्रथमं स्तम्भं स्थापयेत्तद्विधानतः।। वही 1/125
6. दक्षिणपूर्वे कोणे कृत्वा पूजां शिलां न्यसेत् प्रथमम्।
   शेषाः प्रदक्षिणेन स्तम्भाश्चैवं समुत्थाप्याः।।
   छत्रस्रगम्बरयुतः कृतधूपविलेपनः समुत्थाप्यः।
   स्तम्भस्तथैव कार्यो द्वारोच्छ्रायः प्रयत्नेन।। वृ० स० 52/110-111

में शिलान्यास विधि का वर्णन करते हुए शुभसमय का निर्णय विवेचित मिलता है। इसके अनुसार शुभ समय में, शुभ शकुन में स्वस्तिवाचन तथा मंगलपाठ करते हुए हर्षित मन से वास्तु का निवेशन करना चाहिए।[1] प्रकृति से भद्र आकृति, शास्त्रज्ञ, पवित्र, स्नात एवं सुसमाहित, स्थपति देवार्चन की क्रिया का सम्पादन करके शिलान्यास कर्म का आरम्भ करे। इसके बाद स्थपति को चयविधि से शिलापरीक्षा करने का निर्देष दिया गया है।[2] कुम्भ, अंकुश, ध्वज, छत्र, मत्स्य, चामर, तोरण, दूर्वा, नागफल, उष्णीष, पुष्प, और स्वस्तिक तथा वेदियों से चामर सहित नन्द्यावर्तो से, कछुआ, पद्म और चन्द्रमा से वज्र के समान प्रशस्त प्रकारों से विभूषित शिलाएँ शिलान्यास कर्म के हितकारक कही गई है।[3]

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य को अपना भवन निर्माण करने से पूर्व जिस स्थान पर उसने अपना घर बनाना है। उसका सम्यक् प्रकार से चयन करना चाहिए, जिसमें शुभ मुहूर्त तथा शुभदिन का चयन अनिवार्य एवं अपरिहार्य हैं "सोमै रवेती बुद्धै घर" इस लोकोक्ति को यदि प्रमाण माना जाये, तो जिस बुधवार को शुभ मुहूर्त एवं शुभनक्षत्र विद्यमान हों, उसी दिन भूमि चयन के साथ-साथ नींव स्थापन तथा गृहप्रवेश भी श्रेयस्कर माना जाता है। गृहस्वामी को चाहिए कि वह किसी

---

1. अथ ब्रूमः शिलान्यास विधिमत्र यथागमम्।
तत्रोदगयने पुण्ये शुक्लपक्षे शुभेऽहनि।।
स्थिरग्रहस्य दिवसे करणे च गुणान्विते।
तिष्येऽश्विनीषु रोहिण्यामुत्तरेष्वपि च त्रिषु।।
रेवत्यां श्रवणे हस्ते शिलाविन्यास समाचरेत्।
स्थिरस्य राशेरूदये सौम्यमित्रावलोकिते।।
सम्यङ् निमित्तशकुनस्वस्ति पुण्याहवाचिते।
हर्षोदये च मनसः कुर्याद् वास्तोर्निवेशनमम्।। स० सू० भ० नि० 20/1-4
2. भद्रः प्रकृत्या शास्त्रज्ञः शुचिः स्नातः समाहितः।
कर्मारभेत् स्थपतिः कृतदेवार्चनक्रियः।।
पूर्णां समामविकलां चतुरश्रामनिन्दिताम्।
शिलामाद्यां चये साध्वीं परीक्षेत् विचक्षणः।। स० सू० भ० नि० 20/5-6
3. कुम्भाङ्कुशध्वजट्टदत्रमत्स्य चामरतोरणैः।
दूर्वानागफलोष्णीष पुष्प स्वस्तिकवेदिभिः।।
नंद्यावर्तैः समचरैः कूर्मपद्मनिशाकरैः।
वप्रैः प्रशस्तैः प्राकारैर्भूषिताः कर्मणो हिताः।। स० सू० भ० नि० 20/7-8

वास्तुविद् से उस स्थान का परीक्षण करवाके, दिक् साधन करके एवं शल्यशोधन करके उचित परिणाम आने पर ही उसे निवास योग्य समझे। तदुपरान्त उसे शुभ मुहूर्त में उस स्थान पर शिलान्यास करना चाहिए क्योंकि अशुभ मुहूर्त में प्रारम्भ किए गए कार्य में कई विघ्न बाधाएँ उत्पन्न होती हैं एवं गृह अशान्ति का कारक बन जाता है।

• • •

# उपसंहार

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि "वास्तुसौख्यम्" में वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन अत्यन्त विस्तृत रूप से किया गया है। श्री टोडरमल सोलहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध अकबर के सेनापति, वित्तमंत्री एवं वास्तुविद् थे। सोलहवीं शताब्दी के वास्तुविद् श्रीकुमार भी थे, जिन्होंने शिल्परत्नम् नामक ग्रन्थ लिखकर वास्तुशास्त्रीय कलेवर का परिवर्धन किया। इस रूप में श्रीकुमार तथा टोडरमल समकालीन वास्तुविद् सिद्ध होते हैं। वास्तव में सभी प्राणियों में आत्म रक्षा और सुख प्राप्ति का भाव स्वाभाविक रूप से पाया जाता है। निवास स्थान इन दोनों को प्राप्त करने का सर्वोच्च साधन है। अतएव अपने निवास को बनाने में प्रवृत्त होना सभी जीवों का स्वाभाविक धर्म है। मनुष्य में तो यह भाव अधिक प्रबल रहा है। भारतीय साहित्य में ऋग्वेद सबसे प्राचीन माना जाता है। इसमें स्थापत्य सम्बन्धी कई उल्लेख मिलते हैं। भवन निर्माण के सम्बन्ध में वास्तोष्पति देवता का विवरण ऋग्वेद में प्राप्त होता है। अथर्ववेद में प्राप्त शालासूक्त तो वास्तुशास्त्र का मूल स्रोत ही माना जाता है।

वास्तुसौख्यम्कार अपने इस ग्रन्थ में अन्य वास्तुविदों जैसे – वराहमिहिर भोज, वशिष्ठ, किरण आदि के मतों को भी उद्धृत किया है। इसमें उन्होंने भूमि परीक्षण की कई उपयोगी विधियों का उल्लेख किया है। टोडरमल ने भूमि परीक्षण के अवसर पर होने वाले शुकन एवं अपशुकनों का बहुत ही सुन्दर एवं सटीक चित्रण किया है। वास्तुसौख्यम्कार न केवल गृह निर्माण के लिए अपितु दुर्ग, प्रासाद, कूप, उद्यान एवं तड़ाग आदि के निर्माण के लिए भी वास्तुशास्त्रीय तथ्यों का उल्लेख किया गया है। टोडरमल के अनुसार किसी भी व्यक्ति के गृह का प्रमाण निश्चित होना चाहिए, उसके घर की दिशा एवं मुख्य द्वार की दिशा वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों पर आधारित होनी चाहिए। वर्गाकार, आयताकार, वृत्ताकार, अष्टकोण, षट्कोण अण्डाकार आदि भवनों के आकार हो सकते हैं जो एक तल से 12 तल के हो सकते हैं। वास्तुसौख्यम्कार ने ज्योतिष के मतों को गृहप्रवेश मुहूर्त निर्णय के प्रसंग में अभिव्यक्त किया है। उनके

अनुसार शुक्लपक्ष में गृहारम्भ होने से सुख प्राप्ति एवं कृष्णपक्ष में तस्कर का भय रहता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ सप्त अध्यायों में विभक्त है। सभी अध्याय वास्तुशास्त्रीय विचारों से ओत-प्रोत हैं। जिनमें गृह निर्माण सम्बन्धी सभी कार्यों एवं विधायों का वर्णन किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में वास्तुसौख्यम्कार के जीवन व्यक्तित्व कृतित्त्व का उल्लेख करते हुए सर्वप्रथम वास्तुशास्त्र के इतिहास का वर्णन किया है। वास्तुशास्त्र का विवेचन हमें सर्वप्रथम ऋग्वेद में प्राप्त होता है। वैदिक कालीन समाज सुसंस्कृत था उसमें जीवन को सुखमय बनाने के लिए गृह निर्माण किया जाता था चारों वेदों में वास्तुशास्त्रीय तथ्यों का विवेचन मिलता है। वैदिक काल में गृह के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग किया जाता था यथा - दम, पस्त्या, हर्म्य, गेय, सदस, सदन इत्यादि। ऋग्वेद में वास्तोष्पति शब्द का उल्लेख मिलता है जिसका अर्थ वास्तु अथवा गृह का स्वामी। अथर्ववेद के शालासूक्त से भी गृह निर्माण का पता चलता है। वेदांगों में विशेषकर कल्प सूत्रों में वास्तु से सम्बन्धित ज्ञान प्राप्त होता है। वैदिक साहित्य से यह भी ज्ञात होता है कि गृह निर्माण के लिए ईंट, पत्थर, मिट्टी, आदि सामग्री का उपयोग किया जाता था। ब्राह्मण साहित्य में भी प्रसिद्ध पुर एवं नगरों का उल्लेख मिलता है। ज्योतिष में भी वास्तुशास्त्रीय तथ्य जैसे दिक्साधन, भूशोधन, शल्योद्धार, मुहूर्त निर्णय आदि का वर्णन मिलता है। पुराणों में भी विशेषकर अग्निपुराण, मत्स्यपुराण, गरुडपुराण, इसके अतिरिक्त रामायण, महाभारत, आदि में वास्तु से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री मिलती है। तदनन्तर वास्तुशास्त्रीय इतिहास में प्राप्त विभिन्न आचार्यों के नाम का उल्लेख किया गया है। जिनमें आद्य आचार्य विश्वकर्मा तथा मय प्रमुख हैं। तदुपरान्त वास्तुसौख्यम्कार के जीवन, व्यक्तित्व, कृतित्व पर प्रकाश डाला गया है। वास्तुसौख्यम्कार के रचनाकार राजा टोडरमल सम्राट अकबर के सेनापति, वित्तमंत्री, राजस्व मंत्री एवं अकबर के वह सुप्रसिद्ध वास्तुविद् भी थे। वास्तुशास्त्र में टोडरमल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके अनुसार शुभ मुहूर्त में निर्मित गृह में उत्पन्न बालक राजा अथवा कुबेर के समान धनी होता है। टोडरमल का समय 16वीं शताब्दी है।

द्वितीय अध्याय में वास्तुपुरुष की परिकल्पना की गई है। इसमें वास्तु शब्द की व्युत्पत्ति एवं उसका अर्थ तथा उसके विस्तृत क्षेत्र का उल्लेख किया गया है। वास्तु पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए अनेक ग्रन्थकारों के मत का उल्लेख किया गया

है। इन सब ग्रन्थकारों ने वास्तु पुरुष की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् मत अभिव्यक्त किए हैं। वास्तुपुरुष के अंगों पर स्थित देवताओं का वर्णन किया गया है। वास्तुपुरुष की परिकल्पना भवन निवेश की प्रथम प्रक्रिया है। जिसमें निवेश्य भूमि को विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जाता है। इसमें विभिन्न वास्तुपदों का उल्लेख किया गया है जिनके नाम निम्नलिखित हैं - एकाशीतिवास्तु, शतपदवास्तु, चतु:षष्टिवास्तु, षोडशपदवास्तु, सहस्रपदवास्तु, चतु:षष्टिवृत्त वास्तु, शतपदवृत्त वास्तु तथा त्र्यश्रपद वास्तु।

भूमि परीक्षण का तुलनात्मक अध्ययन नामक तृतीय अध्याय में भवन निर्माण हेतु भूमि का चयन का उल्लेख किया गया है कि जिस स्थान पर गृह निर्माण किया जाना है क्या वह स्थान रहने के लिए उचित है या नहीं। इसमें भूमि चयन गंध, वर्ण, प्लव इत्यादि के आधार पर करने का निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त बीजाङ्कुरों की उत्पत्ति के आधार पर भी उत्तम, मध्यम एवं अधम श्रेणी की भूमि का विवेचन किया गया है। तदुपरान्त विविध ग्रन्थों के अनुसार भूमि परीक्षण की विधियों का उल्लेख किया गया है। जिसमें वास्तुसौख्यम्कार ने प्लव के आधार पर भूमि परीक्षण का वर्णन करते हुए कहा है कि चतुर्दिक प्लव भूमि पर ब्राह्मण निवास कर सकता है। गृह निर्माण में दिशा के साधन के महत्त्व का भी उल्लेख किया गया है। तदुपरान्त भू दोष का वर्णन करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि दोष युक्त भूमि पर गृह निर्माण कदापि नहीं करना चाहिए क्योंकि इस प्रकार के दोषों से गृह स्वामी को कई प्रकार के विघ्न बाधाओं के होने की सम्भावना रहती है।

चतुर्थ अध्याय में वास्तुसौख्यम् में वर्णित विविध ग्रहों का परिशीलन किया गया हैं टोडरमल के अनुसार ग्रह मनुष्य को ही प्रभावित नहीं करते अपितु उसके समस्त दैनिक क्रिया-कलापों को भी प्रभावित करते है क्योंकि वास्तुशास्त्र में वास्तु के कार्य ग्रह, नक्षत्र, योग, लग्न आदि के अनुसार आरम्भ किए जाते हैं। गृहारम्भ में कौन सा गृह किस भाव में हो अथवा कौन-सा लग्न गृहारम्भ कार्य के लिए शुभ है। इसका भी पर्याप्त विवेचन वास्तुसौख्यम् में किया गया है। तदुपरान्त शुभ दिवस एवं शुभ मुहूर्त के समय निर्मित गृह में उत्पन्न बालक राजा एवं धनवान् होता है। इसके अतिरिक्त गृहारम्भ के समय अपनी राशि का चन्द्रमा लग्न में हो, केन्द्र में वृहस्पति हो, शेष ग्रह मित्र राशि एवं स्वोच्च में हो तो गृह लक्ष्मीयुक्त एवं चिरस्थायी होता है।

गृह भेद एवं प्रमाण विवेचन नामक पञ्चम अध्याय में गृह भेद में चतु:शाल गृह, त्रिशाल गृह, द्विशाल गृह, एकशाल गृह एवं शाला के अर्थ का विवेचन किया

गया है। वास्तुसौख्यम्कार ने शाला शब्द का अर्थ आच्छादन युक्त गृह का भीतरी भाग किया है। इसमें शाला गृह से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थकारों के मतों को भी अभिव्यक्त किया गया है। इन चतुर्विध शाला ग्रहों के भेदों का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। तदनन्तर ब्राह्मणादि वर्णों के गृह के प्रमाण का उल्लेख किया गया है अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इनके गृह का मान क्या होगा इसका संक्षेप में वर्णन किया गया है। वास्तुसौख्यम् के अनुसार ब्राह्मण के उत्कृष्ट गृह का विस्तार 32 हाथ तथा मध्यमादि गृहों का विस्तार चार-चार हाथ कम करके होना चाहिए।

प्रस्तुत ग्रन्थ के षष्ठ अध्याय में द्वार एवं द्वार-वेध का वर्णन किया है। वास्तुशास्त्र में भवन के द्वार का एक निश्चित माप बतलाया गया है। वास्तुशास्त्र के अनुसार भवन के द्वार को अच्छी लकड़ी से बनवाना चाहिए। वर्णों के अनुसार के द्वारा प्रमाण का उल्लेख किया गया है। वास्तुसौख्यम् में गृह द्वार के प्रमाण का वर्णन करते हुए कहा गया है कि द्वार की चौड़ाई से दूनी द्वार की ऊँचाई होनी चाहिए। समायत द्वार ही शुभ माना जाता है जबकि विषमायत द्वार अशुभ। घर का द्वार किस दिशा में होना चाहिए इसका भी संक्षिप्त विवेचन किया गया है और यह विवर्णित किया गया है कि पूर्वाभिमुख एवं उत्तराभिमुख द्वार वाले गृह प्रशस्य माने जाते हैं। गृह में द्वारों की संख्या का उल्लेख वास्तुशास्त्रीय तथ्यों के आधार पर किया गया है। द्वारों के विविध फलों का विवरण वास्तुसौख्यम् के अनुसार स्पष्ट किया गया है। द्वार वेध के निरूपण के प्रसंग में टोडरमल के अनुसार द्वार में किसी भी प्रकार का वेध नहीं होना चाहिए क्योंकि इससे कई प्रकार की व्याधियाँ एवं कुल का नाश होने की सम्भावना रहती है। इसीलिए आज भी गृहनिर्माण कराते समय लोग द्वारवेद्य मीमांसा का ध्यान रखते हैं।

सप्तम अध्याय में वास्तुशास्त्रीय अध्ययन का विवेचन किया गया है क्योंकि मानव को अपना घर बनाने से पूर्व भूमि चयन करना पड़ता है। उसे वास्तुशास्त्र के परीक्षणों के आधार पर भूमि का परीक्षण कर गृह हेतु भूमि का चयन करना चाहिए। इसमें गृह-निर्माण सम्बन्धित बातों का सूक्ष्म रूप से विवेचन किया गया है। चयनित भूमि का उसे शल्य शोधन भी करना चाहिए क्योंकि इस प्रकार के परीक्षणों से दोष युक्त भूमि से बचा जा सकता है क्योंकि मनुष्य आत्मिक सुख एवं सुरक्षा के लिए आवास का निर्माण करता है। गृहारम्भ करने के लिए शुभ मुहूर्त का विचार भी करना चाहिए क्योंकि अनुचित मुहूर्त में किया गया गृह-निर्माण विघ्न-बाधाओं से युक्त रहता है तदुपरान्त मानव को शिलान्यास उपयुक्त विधि द्वारा करना चाहिए।

संभवतः इसीलिए वास्तुब्रह्म की परिकल्पनानुसार गृहनिर्माण कराना एवं शुभ

मुहूर्त, वार एवं नक्षत्र में भूमिचयन, नींवस्थापन, द्वारस्थापन तथा भवन निर्माण की प्रकल्पना वास्तुविद् लोगों के समक्ष रखते हैं, परन्तु यह भी यथार्थ सत्य है कि आज नगरों में भूमि मिलना दुरूह होता है, तदुपरान्त उसमें वास्तुशास्त्रीय मान्यताओं के अनुसार भवन निर्माण कराना अत्यन्त जटिल कर्म है। मान्यताओं संभवत: इसीलिए स्वास्तिक चिह्न एवं गणेश प्रतिमा स्थापन कर वास्तुशास्त्रीय मान्यताओं को पालन करने की अभिलाषा पूरी कर ली जाती है, परन्तु वास्तुसौख्यम् में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं को स्थान मिला है, इसमें कोई दो राय नहीं है।

राजा टोडरमल ने अपने 'वास्तुसौख्यम्' में भोजकृत समरांगणसूत्रधार की मान्यताओं, वराहमिहिर की बृहत्संहिता की मान्यताओं को विधिवत स्थान दिया है। मुहूर्तस्थापन के प्रसंग में मुहूर्तचिन्तामणि की मान्यताएँ एवं वास्तुसौख्यम् में विवर्णित तथ्यों से साम्यता प्रतीत होती है, परन्तु अपने समकालीन आचार्य श्रीकुमार के ग्रन्थ शिल्परत्नम् का प्रभाव उनके ग्रन्थ में नगण्य ही है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि समस्त वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन वास्तुसौख्यम्कार ने अपने ग्रन्थ में किया है। उन्होंने अपने इस ग्रन्थ में गृह-निर्माण की प्रथम क्रिया अर्थात् भू चयन से लेकर घर में निर्मित वृक्षों पर भी वास्तुशास्त्रीय तथ्यों तक का विवेचन किया है यह ग्रन्थ न केवल हमारे वास्तुशास्त्रीय ज्ञान के लिए उपयोगी अपितु हमारे गृह-निर्माण के लिए भी महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। नि:सदेह वास्तुसौख्यम् को वास्तुशास्त्र का प्रवेशद्वार माना जा सकता है।

• • •

# सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

## (क) मुख्य ग्रन्थ सूची

**अग्निपुराण**, महर्षि व्यास/डॉ० तारिणीश झा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1998

**अथर्ववेद**, व्याख्याकार पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली, 2001

**अपराजितपृच्छा**, सं० पी० ए० मंकड़, बड़ौदा ओरियंटल इंस्टीचयूट, बड़ौदा, 1958

**अभिज्ञानशाकुन्तलम्**, सं० डॉ० विश्वनाथ शर्मा, आदर्श प्रकाशन जयपुर, 1990

**अमरकोश**, सं० श्री मन्नालाल अभिमन्यु, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1999

**अमरकोश**, सं० पं० हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1970

**अर्थशास्त्र**, सं० एवं व्याख्याकार श्री वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1966

**अष्टाध्यायी**, व्याख्याकार ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, रामलाल कपूर, ट्रस्ट सोनीपत, 1971

**ईशान शिवगुरुदेवपद्धति**, सं० टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेंद्रम, 1925 ई०

**ऐतरेय ब्राह्मण**, सं० काशीनाथ शास्त्री, आनन्द आश्रम, पूना 1931 ई०

**ऋग्वेद संहिता**, सं० पं० रामगोविन्द त्रिवेदी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2003

**कलानिधि**, सं० डॉ० श्रीकृष्ण जुगनू, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2007

**कात्यायन श्रौतसूत्र**, डॉ० गोपालशास्त्री वेने, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वनारस, 1939

**कामन्दकीय नीतिसार**, कामन्दक, निर्णसागर, प्रैस, मुम्बई, 1961

**कामसूत्र**, वात्स्यायन मुनि / डॉ० पारसनाथ द्विवेदी, चौखम्बा सुरभारती वाराणसी, 2004

**काश्यपशिल्पम्**, सं० विनायक गणेश आप्टे, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, 1982

**कौषीतकि ब्राह्मण**, ई० वी० कावेल, कलकत्ता, 1861
**गरुड पुराण**, सं० डॉ० रमाशंकर भट्टाचार्य, चौखम्बा, वाराणसी, 1964
**गोपथ ब्राह्मण**, सं० राजेन्द्र लाल मिश्र एवं हरचंद्र विद्याभूषण, कलकत्ता, 1881ई०
**गृहवास्तु प्रदीप**, सं० डॉ० शैलजा पाण्डेय, चौखम्बा सुरभारती वाराणसी, 2004
**जैमिनीय ब्राह्मण**, सं० आचार्य रघुवीर एवं लोकेश चंद्र, सरस्वती बिहार, नागपुर, 1980
**ज्योतिर्विदाभरणम्**, कालिदास दैवज्ञ, मोतीलाल वनारसी दास, दिल्ली, 1990
**तैत्तिरीय संहिता**, सं० दामोदर सातवलेकर, भारत मुद्रणालय, औंध 1945
**धनुर्वेद संहिता**, शार्ङ्गधर, संगृहीतक, खेमराज श्रीकृष्ण दास, मुम्बई, 1990
**नाट्यशास्त्रम्**, सं० पं० बटुकनाथ शर्मा, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, 1980
**नारद पुराण**, सं० हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस गोरखपुर, 1954
**निरुक्तम्**, सं० छज्जू राम शास्त्री, मेहरचन्द लछमन दास पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1985
**पद्मपुराण**, सं० पं० पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, 1958
**पास्कर गृह्यसूत्र**, सं० गोपालशास्त्री नेने, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, 1926 ई०
**बृहत्संहिता ( 1-2 )**, व्याख्याकार पं० अच्युतानन्द झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2005
**बृहत्संहिता**, व्याख्याकार पं० अच्युतानन्द झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2003
**बृहद्वास्तुमाला**, सं० एवं व्याख्याकार ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2003
**ब्रह्माण्ड पुराण**, जगदीशलाल शास्त्री, मोतीलाल वनारसी दास दिल्ली, 1983
**ब्रह्मपुराण**, हिन्दी व्याख्याकार तारिणीश झा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, 1993
**ब्रह्मवैवर्त पुराण**, बाबूराम उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 2003
**भविष्य पुराण**, हिन्दी व्याख्याकार राजेन्द्रनाथ शर्मा, नाग पब्लिशर्स दिल्ली, 1995
**मत्स्यपुराण**, हिन्दी व्याख्याकार पं० तारिणीश झा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 1988

**मनुष्यालय चंद्रिका**, सं० एवं व्याख्याकार डॉ० श्रीकृष्ण जुगनू, न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली, 2004

**मयमतम्**, सं० डॉ० शैलजा पाण्डेय, चौखम्बा सुरभारती वाराणसी, 2007

**महाभारत**, सं० एवं व्याख्यकार रामनारायणदत्त शास्त्री, गीताप्रैस गोरखपुर, 1987

**मार्कण्डेय पुराण**, सं० पं० कन्हैयालाल मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1995

**मानसार**, सं० पी० के० आचार्य, मोतीलाल वनारसी दास, दिल्ली, 1995

**मानसोल्लास भाग-2**, सं० सोमेश्वर/ जी० के० श्री गोण्डेकर, ओरियंटल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा, 1939

**मुहूर्त्त गणपति**, सं० एवं व्याख्याकार डॉ० मुरलीधर चतुर्वेदी, मोतीलाल वनारसी दास, दिल्ली, 1995

**मुहूर्त्त चिन्तामणि**, सं० एवं व्याख्याकार केदारदत्त जोशी, मोतीलाल वनारसी दास, दिल्ली, 1995

**यजुर्वेद**, सं० महर्षि दयानन्द, दयानन्द संस्थान, दिल्ली, 1974

**याज्ञवल्क्यस्मृति**, सं० एवं व्याख्याकार डॉ० गंगासागर राय, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1999

**युक्तिकल्पतरु**, सं० ईश्वर चन्द्र शास्त्री, कलकत्ता, 1917

**राजवल्लभवास्तुशास्त्रम्**, सं० एवं व्याख्याकार सं० डॉ० श्री कृष्ण जुगनू, परिमल पब्लिकेशंस दिल्ली, 2005

**रामायण**, वाल्मीकि, गीताप्रैस गोरखपुर, 1980

**रुपमण्डन**, सं० डॉ० बलराम श्री वास्तव, मोतीलाल वनारसी दास, दिल्ली, 1996

**लिङ्ग पुराण**, सं० श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृत संस्थान, वरेली, 1996 ई०

**वायु पुराण**, सं० ब्रजमोहन चतुर्वेदी, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1995

**वास्तुसौख्यम्**, श्रीटोडरमल / सं० आचार्य श्री कमल कांत शुक्ल, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, 1999

**विष्णुधर्मोत्तर पुराण**, सं० डॉ० प्रियाबाला शाह, ओरियन्टल ईंस्टीच्यूट, बड़ौदा, 1958

**विश्वकर्मवास्तुशास्त्र**, सं० खेमराज श्रीकृष्ण दास प्रकाशन, मुम्बई, 1999

**विश्वकर्मवास्तुशास्त्र**, सं० श्री० के० वासुदेव शास्त्री एवं मेजर एन० वी० गादरे, टी० एम० एस० एस० सम० साहित्य अनुसंधान समीति, 1964

**शतपथ ब्राह्मण**, सं० पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय, गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली, 1988

**शिल्परत्नम्**, सं० टी० गणपति शास्त्री, गवर्नमेंट प्रैस, त्रिवेंद्रम, 1913

**शुक्रनीति**, सं० जगदीश चन्द्र मिश्र, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1992

**श्रीमद्भागवत पुराण**, सं० एवं व्याख्याकार पं० रामतेजपाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1996

**समराङ्गणसूत्रधार ( 1-2 )**, सं० एवं व्याख्याकार डॉ० पुष्पेन्द्र कुमार, न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली, 1998

**सामवेद संहिता**, सं० एवं व्याख्याकार पं० रामस्वरूप शर्मा गौड़, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, 2005

**( ख ) सहायक ग्रन्थ सूची**

**कल्याण हिन्दू संस्कृति विशेषांक**, गीता प्रैस गौरखपुर, 2007

**कालिदास का भारत**, डॉ० भगवत शरण उपाध्याय, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, कलकत्ता, 1980

**कौटिल्य कालीन भारत**, आचार्य दीपङ्कर, हिन्दी समीति सूचना विभाग, लखनऊ, 1968

**ज्योतिष रत्नमाला**, सं० एवं व्याख्याकार डॉ० श्रीकृष्ण जुगनू, परिमल पब्लिकेशन्स दिल्ली, 1990

**ज्योतिष सर्वस्व**, डॉ० सुरेश चंद्र मिश्र, रंजन पब्लिकेशन्स, दिल्ली

**देवता मूर्तिप्रकरण**, डॉ० श्रीकृष्ण जुगनू, न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली, 2003

**नैषधीयचरितम् की शास्त्रीय मीमांसा**, डॉ० राम बहादुर शुक्ल, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 2005

**पतञ्जलि कालीन भारत**, पं० पन्नालाल जैन, भारती ज्ञानपीठ काशी, 1958

**पाणिनिकालीन भारतवर्ष**, वासुदेव शरण अग्रवाल, मोती लाल वनारसी दास, दिल्ली, 1955

**पुराणगत वेदविषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन**, डॉ० रमाशंकर भट्टाचार्य, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 1965

**पुराण विमर्श**, आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 2002

**पूर्व कालामृत**, कालिदास/ डॉ० सुरेशचन्द्र मिश्र, रंजन पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2003

**पौराणिक धर्म एवं समाज**, सिद्देश्वरी नारायण राय, पञ्चनन्द पब्लिकेशन्स इलाहाबाद, 1968

**प्राचीन भारत का इतिहास और संस्कृति**, बी० जी० गोखले, एशिया पब्लिशिग हाऊस, दिल्ली, 1957

**प्राचीन भारत में जनपद राज्य**, डॉ० सुदामा मिश्र, काशी विद्यापीठ वाराणसी, 1972

**प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन**, उदायनारायण राय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1998

**प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु**, डॉ० पृथ्वी कुमार अग्रवाल, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2002

**प्राचीन भारतीय स्तूप गुह्य एवं मन्दिर**, डॉ० वासुदेव उपाध्याय, बिहार हिन्दी, ग्रन्थ आकादमी, पटना, 1972

**प्राचीन भारतीय संस्कृति कला और साहित्य**, डॉ० जयकिशन प्रसाद, विनोद पुस्तक मन्दिर, 1970

**प्रासादमण्डनम्**, डॉ० श्रीकृष्ण जुगनू, परिमल पब्लिकेशन्स दिल्ली, 2005

**बुद्धकालीन राजगृह**, श्री अनन्त कुमार, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 2006

**भारत का इतिहास**, डॉ० आर्शीवादी लाल श्रीवास्तव, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, 1988

**भारत का प्राचीन इतिहास**, सत्यकेतु विद्यालंकार, सरस्वती सदन मसूरी, 1960

**भारतीय कला**, वासुदेव शरण अग्रवाल, पृथिवी प्रकाशन वाराणसी, 1966

**भारतीय वास्तु एवं भवन निर्माण**, पं० जगदीश शर्मा, राधा पाकेट बुक्स, मेरठ, 2003

**भारतीय वास्तुकला**, वृजमोहन दम्माणी, कामेश्वर प्रकाशन बीकानेर, 1997

**भारतीय वास्तुकला का इतिहास**, कृष्णदत्त वाजपेयी, हिन्दी समीति हिन्दी भवन, लखनऊ, 1972

**भारतीय वास्तुशास्त्र**, डॉ० द्विजेंद्र नाथ शुक्ल, शुक्ल प्रिंटिंग प्रैस लखनऊ

**भारतीय वास्तुशास्त्र ( प्रतिमा विज्ञान )**, डॉ० द्विजेंद्र नाथ शुक्ल, वास्तुवाङ्मय प्रकाशन शुक्ल कुटी, लखनऊ, 1982

**भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता**, डॉ० प्रसन्न कुमार आचार्य, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रभाग, 1963

**भारतीय स्थापत्य**, डॉ० द्विजेंद्र नाथ शुक्ल, शुक्ल प्रिंटिंग प्रैस लखनऊ, 1983

**भवन भास्कर**, राजेन्द्रकुमार धवन, गीता प्रैस, गोरखपुर, 2002

**मध्यकालीन भारतीय कलाएँ एवं उनका विकास**, डॉ० रामनाथ, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, 1995

**महाभारत में राज्यव्यवस्था**, डॉ० प्रेम कुमारी दीक्षित, अर्चना प्रकाशन, लखनऊ, 1970

**मानसागरी**, विजयकान्त मिश्र शास्त्री, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1999

**वेदकालीन समाज**, डॉ० शिवदत्त ज्ञानी, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1967

**वैदिक वास्तु**, जगदीश शर्मा, फ्यूजन बुक्स, दिल्ली, 2004

**वैदिक सम्पत्ति**, पं० रघुनाथ शर्मा, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली, 2001

**वैदिक संस्कृति**, गंगा प्रसाद उपाध्याय, आर्य साहित्य सदन प्रकाशन, 1950

**वास्तु एवं शिलाचयन**, डॉ० श्रीकृष्ण जुगनू, न्यू भारतीय बुक कारपोरेशन, दिल्ली, 2005

**वास्तुरत्नाकर**, व्याख्याकार डॉ० विंध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, 1997

**वास्तुरत्नावली**, व्याख्याकार अच्युतानन्द झा, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1993

**वास्तुविज्ञानम्**, आचार्य उमेश शास्त्री, व्यास बालवक्ष शोधसंस्थान, जयपुर, 1996

**वास्तुविद्या**, गणपति शास्त्री, गवर्नमेण्ट प्रैस, त्रिवेन्द्रम, 1913

**वास्तुशास्त्रानुसार भवन निर्माण**, डी मुरलीधर राव, पुस्तक महल, दिल्ली, 2003

**वास्तुशास्त्रमहाग्रन्थ**, राजेन्द्र कुमार रत्तरा, सुबोध पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2000

**वास्तुश्रृंगार दर्पणम्**, आचार्य उमेश शास्त्री, व्यास बालबक्ष शोध संस्थानम्, 2007

**वास्तुसारमण्डनम्,** सूत्रधार मण्डन/ व्याख्याकार डॉ० श्रीकृष्ण जुगनू, न्यू भारतीय बुक कारपोरेशन, दिल्ली, 2005

**व्यवहारिक वास्तुशास्त्र,** द्वारका प्रसाद शर्मा, पंच शील प्रकाशन, जयपुर, 2005

**विश्वकर्म विद्याप्रकाश,** रविदत्त शास्त्री, खेमराज श्रीकृष्ण दास, मुम्बई, 1998

**शब्दकल्पद्रुम,** राजा राधाकान्त देव, नाग प्रकाशन, दिल्ली, 1987

**शब्दार्थ चिंतामणि कोष,** श्री सुचानन्द नाथ, 1942

**शब्दार्थभानु,** भानुदत्त विशारद, लाहौर गवर्नमेंट सेन्ट्रल बुक डिपो, 1875

**शब्दस्तोममहानिधि,** श्री तारानाथ भट्टाचार्य, चौखम्बा संस्कृत सिरीज वाराणसी, 1967

**समराङ्गणसूत्रधार वास्तुशास्त्रीय भवन निवेश,** डॉ० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, मेहरचन्द्र लछमनदास, दिल्ली, 1965

**संस्कृत साहित्य कोश,** डॉ० राजवंश सहाय हीरा, चौखम्बा संस्कृत सीरिज वाराणसी, 1973

**( ग ) अंग्रेजी ग्रन्थ सूची**

*A Dictionary of English and Sanskrit,* M. Williams, Motilal Banarasi Dass, Delhi, 1999

*An Encyclopedia of Indian Architecture,* P.K. Acharya, Low Price, Publishers, Delhi, 2001

*Building Constructions,* Mitchel, B.T.Batsford Ltd., Landon, 1943

*Dictionary of Indian Architecture,* P.K. Acharya, Varanasi, 1979

*Hindu Architecture in India and Abroad* **(Mansara Series Vol. IV)** P.K. Acharya, Oxford, 1946

*Hindu Science of Architecture Vastu Shastra Vol. I,* D.N. Shukla, Lucknow, 1960

*History of Classical Sanskrit Literature,* M.Krishanamachariar, Motilal Banarasi Dass, Delhi, 1970

*Indian Architecture according to Manasara Silpasastra,* Oxford University Press, London, 1934

*Indian Art,* Vasudev Sharan Aggarwal, Varanasi, 1965

*Mayamat,* Bruno Dagens, Indira Gandhi National Centre for the Arts, 1997

*Rigavedic Culture,* A C Das, Motilal Banarasi Dass, New Delhi, 2001

*Shilpa Shastram,* P.N. Bose, Eastern Book Linkers, Delhi, 2006

*The Little Book on Vastu,* Gyan C. Jain, BPB Publications, Delhi, 1996

*The Hindu Temple,* Stella Kramrisch, Motilal Banarasi Dass, Delhi, 1976

*Vastu Shastra Vol. I,* D.N. Shukla, Munshiram Manohar Lal, New Delhi, 1998

• • •



**डॉ सुनील दत्त**

**जन्म स्थान–** गाँव-गोबिन्दसर, ज़िला-कठुआ राज्य- जम्मूकश्मीर, भारत।

**जन्म तिथि–** 20-03-1988

**पिता–** श्री राज कुमार

**माता–** श्रीमती चम्पा देवी

**कार्यक्षेत्र–** संविदा प्रवक्ता संस्कृत, राजकीय आदर्श महाविद्यालय महानपुर, कठुआ।

**अध्यापन अनुभव –** 2014 से उच्च शिक्षा विभाग जम्मू-कश्मीर राज्य के विभिन्न महाविद्यालयों में संविदा संस्कृत प्रवक्ता में अनवरत।

**विशेष उपाधियाँ–** SLET (J&K) परीक्षा उत्तीर्ण - 2013 U.G.C NET परीक्षा उत्तीर्ण - 2014

**सेमिनार एवं कार्यशाला सहभागिता**

अन्तर्राष्ट्रीय - 01

राष्ट्रीय - 10

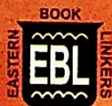
**शोध पत्र प्रकाशन**

अन्तर्राष्ट्रीय - 3

राष्ट्रीय - 7

**प्रकाशनाधीन ग्रन्थ**

ज्योतिष एवं वास्तु - एक अध्ययन।




**EASTERN BOOK LINKERS**
(INDOLOGICAL PUBLISHERS & BOOKSELLERS)
HO.: 5825, New Chandrawal, Jawahar Nagar,
Delhi-110007 Ph.: 23850287, 09811232913
Showroom: 4806/24, Bharat Ram Road,
Ansari Road, Darya Ganj, Delhi-110002
Phone: 23285413
e-mail: eblindology@gmail.com
ebl.info76@gmail.com
website: www.eblindology.com

ISBN: 978-81-938579-2-2

